विद्यापति की काव्य-साधना

[कविवर विद्यापति के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विशद अध्ययन]

देशराजसिंह भाटी एम. ए.

हिन्दी साहित्य संसार
दिल्ली-६ पटना-४

अपना प्रयास अपनी दृष्टि में

किसी भी कवि का मूल्यांकन करने के दो अनिवार्य आधार होते हैं—उसका कवि-रूप और और उसका प्रभावक रूप। इन दोनों रूपों में विद्यापति की महत्ता असंदिग्ध है, किन्तु खेद है कि अपेक्षित गवेषणाओं के अभाव तथा अनपेक्षित प्रभाव के कारण इनके विषय में, विशेषतः जीवनवृत्त के विषय में, अनेक भ्रांतियाँ आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई हैं।

प्रस्तुत कृति में यद्यपि अपेक्षित गवेषणाओं का गाम्भीर्य नहीं, तथापि रूढ़िबद्ध प्रभाव की शृंखलाओं को तोड़ने का प्रयास अवश्य है। यह प्रयास विस्तृत न होते हुए भी एक नवीन दिशा का निश्चय ही संकेतक है। मेरा विश्वास है कि यदि विद्यापति का अध्ययन इस नवीन दिशा में किया जाए तो इनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सम्बद्ध अनेक भ्रांतियों का स्वतः निवारण हो जाएगा और इनके अनेक अप्रकाशित गुण अपने दिव्य-प्रकाश से जगमगा उठेंगे।

इस प्रयास का सम्यक् पर्यालोचन तो विज्ञ पाठक ही करेंगे। मैं तो दशरूपक-कार के शब्दों में केवल इतना ही कह सकता हूँ कि कवि और भावक में सद्भावना होने पर संसार की कोई वस्तु रस तथा भाव से विलग नहीं रह जाती—

'रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच—
मुग्रंप्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावक भाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके।'

किं बहुना!

—देशराजसिंह भाटी

विषय-सूची

संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य के प्रकांड पंडित

तथा

गुरुकुल महाविद्यालय सिकन्दराबाद के संस्कृत-विभागाध्यक्ष

श्रद्धेय गुरुवर

आचार्य खजानदत्त शर्मा

को

सादर समर्पित

—देशराजसिंह भाटी

: १ :

विद्यापति का जीवनवृत्त

अपने सम्बन्ध में मूक रहना या अपनी कृतियों में परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से यत्र-तत्र संकेतमात्र कर देना प्राचीन भारतीय कवियों की सांस्कृतिक परम्परा रही है, फलतः उनका सम्पूर्ण और निर्विवाद जीवनवृत्त प्राप्त कर लेना आसान कार्य नहीं है। जीवनधारा की सूक्ष्मतम वीचियों को प्रबलतम प्रवाह का रूप देने वाले महाकवि कालिदास, समाज की मानसिक अस्तव्यस्तता को हृदयंगम करके उसका उपचार करने वाले गोस्वामी तुलसीदास और बाल-लीला की प्रत्येक चेष्टा को सावयव बनाने वाले सूरदास प्रभृति मनीषियों के जीवन के कितने ही पहलू आज भी विवाद का विषय बने हुए हैं और न जाने कब तक बने रहेंगे ?

विद्यापति का जीवनवृत्त भी ऐसे ही विवादों से ग्रस्त है। भले ही इन्होंने अज्ञात और ज्ञात यौवना की प्रत्येक 'हरकत' को वाणी के माध्यम से साकार कर दिया हो, प्रेम के सुनहले पंखों को फड़फड़ाने वाली मनःस्थिति का यथातथ्य चित्रण कर दिया हो और सौन्दर्य के प्रत्येक कोने का अनावरण कर दिया हो, किन्तु अपने विषय में इनकी सरस्वती भी प्रायः मौन ही बनी रही है। इनका जीवनवृत्त प्राप्त करने में आभ्यन्तर पक्ष की अपेक्षा बाह्यान्तर ही अधिक सहयोगी है। तत्कालीन शिलालेख, ताम्रपत्र, दानपत्र, पंजीप्रबन्ध आदि के द्वारा ही इनका परिचय प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि तत्कालीन राजवंशों से इनका निकटतम सम्पर्क रहा है।

जन्मस्थान और जन्मकाल—विद्यापति का जन्म मिथिला प्रांत में दरभंगा ज़िले के अन्तर्गत जरैल परगना के बिसपी नामक ग्राम में हुआ था। इसको लोग पहले 'गढ़ बिसपी' भी कहा करते थे। संभव है, कभी यहां किसी राजा का गढ़ रहा हो। यह गांव महाराज शिवसिंह ने विद्यापति को दान में दिया था। दानपत्र का लेख इस प्रकार है—

"···श्रीमच्छिवसिंहदेवपादाः समरविजयिनो जरैल तप्पायां बिसपीग्रामवास्तव्यसकललोकान् भूकर्षकांश्च समादिशंति ज्ञातमस्तु भवताम्। ग्रामोऽयमस्माभिः सप्रक्रियाभिनवजयदेवमहाराजपंडितठक्कुर श्रीविद्यापतिभ्यः शासनीकृत प्रदत्त···"[1]

१—जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल।

इनका जन्मकाल विवादपूर्ण है। डा० उमेश मिश्र २४१ लक्ष्मण संवत्[1] (१३६० ई०) के लगभग मानते हैं। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने ये प्रमाण दिए हैं—

१ इनके (विद्यापति के) पिता गणपतिठाकुर महाराज गणेश्वरसिंह के राजसभासद थे और गणेश्वरसिंह की राजसभा में अपने पुत्र विद्यापति को अपने साथ ले जाया करते थे। महाराज गणेश्वरसिंह की मृत्यु २५२ लक्ष्मण संवत् में हुई थी। अतः विद्यापति उस समय कम से कम १० या ११ वर्ष की अवस्था के अवश्य रहे होंगे जिसमें इनका राजदरबार में आना-जाना हो सकता था।

२ विद्यापति के प्रधान आश्रयदाता शिवसिंह ५० वर्ष की अवस्था में राजगद्दी पर बैठे, यह परम्परा से माना जाता है। अतः उनका जन्म २४३ लक्ष्मण संवत् के लगभग में हुआ होगा और यह भी लोगों की धारणा है कि कवि विद्यापति उनसे दो वर्ष मात्र बड़े थे।

३ विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में अपने को 'खेलन कवि' कहा है, इसलिए यह अवश्य कीर्तिसिंह या वीरसिंह की दृष्टि में अल्प वयस के साथ-साथ खेलने के योग्य रहे होंगे। इन सभी बातों से यही अनुमान होता है कि विद्यापति २५२ लक्ष्मण संवत् में लगभग १० वर्ष के थे।[2]

श्री नगेन्द्रनाथ और पं० शिवनन्दन ठाकुर २३२ लक्ष्मण संवत् (१३५१ ई०) के लगभग मानते हैं। पं० शिवनन्दन ठाकुर लिखते हैं—

'किंवदन्ती है कि विद्यापति शिवसिंह से दो बरस बड़े थे और राज्याभिषेक के समय शिवसिंह की उम्र ५० वर्ष की थी। इस किंवदन्ती के अनुसार २९३ लक्ष्मण संवत् में विद्यापति की उम्र ५२ वर्ष की थी और उनकी मृत्यु ९० वर्ष की उम्र में हुई। इनकी प्रथम पुस्तक 'कीर्तिलता' की रचना २५२ लक्ष्मण संवत् के लगभग हुई थी। इस समय विद्यापति कम से कम बीस बरस के अवश्य होंगे। इस प्रकार अनुमान से मालूम पड़ता है कि विद्यापति का जन्म लगभग २३२ लक्ष्मणाब्द में हुआ होगा।'[3]

डा० विमानबिहारी मजूमदार २६१ ल० सं० (१३८० ई०) निर्धारित करते हैं। अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए इन्होंने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं—

१ विद्यापति ने १३९५-९६ ई० के बीच पद लिखकर गियासउद्दीन और नसरतशाह को समर्पित किए थे। १३९६-९७ ई० के बाद जौनपुर के प्रथम सुलतान ने तिरहुत पर विजय प्राप्त की थी। १३९७ ई० के पश्चात् नसरतशा के सुलतान पद पर दावा करने से पूर्व ये दोनों पद (जो विद्यापति ने समर्पित किए थे) लिखे गए थे।

२ १४०० ई० के लगभग विद्यापति ने नैमिषारण्य निवासी देवीसिंह के आदेश

१—लक्ष्मण सेन संवत् और ईस्वी सन् में १११९ वर्ष का अन्तर है।

२—विद्यापति ठाकुर, पृष्ठ ४६-४७

३—महाकवि विद्यापति, पृष्ठ ३८-३९

से 'भूपरिक्रमा' की रचना की।

३. १४०२-४ ई० के मध्य इब्राहीम ने कीर्तिसिंह को मिथिला का राज्य दिया और उसी समय विद्यापति ने 'कीर्तिलता' की रचना की।

४. १४१० ई० में विद्यापति के आदेश से 'काव्यप्रकाशविवेक' की अनुलिपि की गई। इस समय कवि अलंकार-शास्त्र का अध्ययन करते थे। इसी समय 'पुरुष परीक्षा' की और देवीसिंह के स्वर्गवास के उपरांत अथवा पहले 'कीर्तिपताका' की रचना की गई।

५. १४१०—१४ ई० के मध्य शिवसिंह के राज्यकाल में दो सौ पदों की रचना हुई।

६. १४१८ ई० में द्रोणवर के अधिपति पुरादित्य के आश्रय में राजबनौली में 'लिखनावली' रची गई।

७. १४२८ ई० में इसी राजबनौली में विद्यापति ने भागवत की अनुलिपि समाप्त की।

८. १४३०—४० के बीच पद्मसिंह और विश्वासदेवी के नाम से एक पद की रचना और 'शैवसर्वस्वसार' तथा 'गंगावाक्यावली' की रचना हुई।

९. १४४०—६० ई० के मध्य 'विभागसार', 'दानवाक्यावली' और 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' की रचना हुई।

१०. १४६० ई० में स्मृति के अध्यापक के रूप में ब्राह्मण-सर्वस्व का अध्यापन किया।[१]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल संवत् १४६० वि० में राजा शिवसिंह के दरबार में विद्यापति का विद्यमान होना स्वीकार करते हैं।[२] यह प्रसिद्ध ही है कि राजा शिवसिंह ५० वर्ष की अवस्था में सिंहासनारूढ़ हुए थे और इन्होंने केवल तीन वर्ष और नौ महीने राज्य किया।[३] अतः इनके राज्यकाल की सीमा अधिक से अधिक संवत् १४६३ वि० और कम से कम संवत् १४५७ वि० हो सकती है। पदावली शिवसिंह के संरक्षण में ही रची गई, अतः सिद्ध होता है कि विद्यापति शिवसिंह के राज्यारोहण के कुछ दिन पश्चात् ही उसके आश्रय में आ गये होंगे। आचार्य शुक्ल के अनुसार शिवसिंह का राज्याभिषेक सन् १४०३ ई० के लगभग हुआ। अतः विद्यापति की जन्मतिथि १३५१-५३ ई० के मध्य निर्धारित होती है, क्योंकि ५० वर्ष की आयु में शिवसिंह का राज्याभिषेक प्रसिद्ध ही है।

इस प्रकार डा० उमेश मिश्र, पं० शिवनन्दन ठाकुर, डा० विमानविहारी

१—विद्यापति : शिवप्रसादसिंह, पृष्ठ ४७-४८
२—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५८
३—महाकवि विद्यापति, पृष्ठ [illegible]

मजुमदार तथा आचार्य शुक्ल के अनुसार विद्यापति का जन्मकाल क्रमशः १३६० ई०, १३५१ ई०, १३८० ई० तथा १३५१—५३ के मध्य निर्धारित होता है। डा० मजुमदार के अतिरिक्त शेष विद्वानो की मान्यताओ मे विशेष अन्तर नही है। केवल अनुमान ही जहा आलम्बन है, वहा १०-११ वर्ष का व्यवधान नगण्य ही है। हा, डा० मजुमदार का मत अवश्य विचारणीय है।

डा० मजुमदार शिवसिंह का राज्यकाल १४१०—१४१४ ई० के बीच मानते है, जो ठीक भी है, क्योकि विद्यापति ने स्वय १४११ ई० लिखा है—

"अनल रघ्र कर लक्खन नरवए सक समुद्द कर अगिनि ससी,
चैत कारि छठि जेठा मिलिअओ बार वेहप्पउ ए जाउलसी।
विज्जावइ कविवर एहु गावइ मानव मन आनन्द भएओ,
सिंहासन सिवसिंह बइट्ठो उच्छवे वैरस बिसरि गएओ।"

इस पद का अभिप्राय यह है कि २९३ लक्ष्मणाब्द (१४१२ ई०) १३२४ शाक के चैत्र मास की कृष्ण षष्ठी ज्येष्ठा नक्षत्र बृहस्पतिवार को सन्ध्याकाल मे देवीसिंह ने पृथ्वी छोड़कर स्वर्गलोक को प्रयाण किया और राजा शिवसिंह सिंहासनारूढ हुए।

शिवसिंह ने केवल ३ वर्ष और नौ माह राज्य किया। इसके बाद वे या तो मारे गये अथवा अज्ञातवास को चले गये। इसी अवधि को शिवसिंह का मृत्युकाल माना जाता है। इस प्रकार शिवसिंह का मृत्युकाल १४१४ ई० के लगभग है। अपनी मृत्यु के विषय मे विद्यापति का कथन है—

"सपन देखल हम सिवसिंघ भूप,
बत्तीस बरस पर सामर रूप।
बहुत देखल गुरुजन प्राचीन
अब भेलहुँ हम आयु विहीन।"

इन पक्तियो के अनुसार विद्यापति की मृत्यु शिवसिंह की मृत्यु के ३२ वर्ष पश्चात् हुई। तब तो डा० मजूमदार के अनुसार विद्यापति की मृत्यु १४४६ ई० मे होनी चाहिए (यद्यपि ये १४६० ई० तक विद्यापति का जीवित रहना स्वीकार करते हैं जो न तो जनश्रुतियो से ही सिद्ध होता है और न इतिहास से ही) इस प्रकार विद्यापति की आयु केवल ६६ वर्ष की बैठती है जबकि इनकी आयु ९० वर्ष के लगभग मान्य है।

हमारा अनुमान है कि विद्यापति का जन्म १३५९ ई० के लगभग हुआ होगा क्योकि—

१. शिवसिंह का अभिषेक १४११ ई० मे हुआ, तब शिवसिंह की आयु ५० वर्ष की थी, अत. उनकी जन्मतिथि १३६१ ई० के लगभग हुई।

२. विद्यापति शिवसिंह से दो वर्ष बड़े थे, अतएव विद्यापति की जन्मतिथि १३५९ ई० के लगभग हुई। इस तिथि के अनुसार विद्यापति की आयु ८७ वर्ष के लगभग

सिद्ध होती है जो निःसन्देह एक लम्बी आयु कही जा सकती है।

मृत्युकाल—जन्मकाल की भाँति इनका मृत्युकाल भी विवादपूर्ण है। पं० शिवनन्दन ठाकुर कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी ल० सं० ३२९ मानते हैं। वे लिखते हैं—'ल० सं० २९३ में शिवसिंह का राज्याभिषेक हुआ। वह चैत का महीना था। शिवसिंह ने तीन वर्ष और नौ महीने तक राज्य किया, अर्थात् ल० सं० २९६ के पूस महीने तक शिवसिंह राजा थे। उनकी मृत्यु के ३२ वरस वाद अर्थात् ल० सं० ३२८ के माघ या फागुन में विद्यापति ने शिवसिंह को स्वप्न में देखा। जिन पुराणों में बुरे स्वप्नों के बुरे फल और अच्छे स्वप्नों के अच्छे फल बताए गये हैं उन पुराणों में यह भी बतलाया गया है कि उन स्वप्नों का फल कब मिलता है। उदाहरण के लिए ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्णखण्ड ७०वां अध्याय के श्लोक नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

"स्वप्नस्तु प्रथमे मासे संवत्सरफलप्रदः।
द्वितीये चाष्टभिर्मासैस्त्रिभिर्मासैस्तृतीयके॥
चतुर्थे चार्द्धमासेन स्वप्नः स्यात्तु फलप्रदः।"[1]

रात के पहले पहर में देखा हुआ स्वप्न एक वर्ष में फल देता है, दूसरे पहर में देखा हुआ स्वप्न आठ महीनों में, तीसरे पहर में देखा हुआ स्वप्न तीन महीनों में और चौथे पहर में देखा हुआ स्वप्न पन्द्रह दिनों में फल देता है।

इसके अनुसार आठ महीनों में (३२९ ल० सं० में) विद्यापति की मृत्यु हुई। विद्यापति की मृत्यु के विषय में सुना जाता है—

"कातिक धवल त्रयोदसि जान।
विद्यापति क आयु अवसान।"

अर्थात् कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी को विद्यापति की मृत्यु हुई। जन्मतिथि के निश्चित रूप से नहीं ज्ञात होने के कारण, कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी को विद्यापति की जयन्ती मनाई जाती है। इसलिए विद्यापति की मृत्युतिथि ३२९ ल० सं० में कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी मालूम पड़ती है।'[2]

इस मत का खण्डन करते हुए श्री शिवप्रसादसिंह लिखते हैं—'श्री शिवनन्दन ठाकुर ने ब्रह्मवैवर्त पुराण से स्वप्न-फल के प्रकरण को मिलाकर यह प्रमाणित करने की कोशिश की है कि स्वप्न के आठ महीने बाद विद्यापति की मृत्यु हुई। किन्तु नैपाल दरबार की लाइब्रेरी में सुरक्षित हलायुध मिश्र की पुस्तक 'ब्राह्मणसर्वस्व' की पाण्डुलिपि विद्यापति के एक शिष्य ने ३४१ लक्ष्मण संवत् में की। पाण्डुलिपि के अन्त में कहा गया है कि लिपि के समय रूपधर विद्यापति के पास पढ़ रहा था।'[3]

१—ब्रह्मवैवर्त पुराण : कृष्णखण्ड, अध्याय ७०

२—महाकवि विद्यापति, पृष्ठ ३७-३८

३—विद्यापति, पृष्ठ ४७

श्री शिवप्रसादसिंह के इस खण्डन में कोई जान नहीं है। केवल यह आधार कि कि पाण्डुलिपिकार ने अपने को विद्यापति का समकालीन बताया है, विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। मान और प्रतिष्ठा के लोलुप मनुष्य महापुरुषों अथवा यशोपलब्ध व्यक्तियों के साथ अपना निकटतम सम्बन्ध स्थापित कर ही लेते हैं। लिपिकार भी इस लोभ को संवरण नहीं कर सका है, क्योंकि ३४१ ल० सं० (१४६० ई०) तक विद्यापति का जीवित रहना प्रमाणित नहीं होता।

यदि विद्यापति का जन्म १३५६ ई० के लगभग माना जाये तो इनकी मृत्यु १४४६ ई० (३२७ ल० स०) सिद्ध होती है। डा० उमेश की भी यही मान्यता है। उन्हीं के शब्दों में—

"विद्यापति ने 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' महाराज भैरवसिंह के समय में बनाया था और ३२७ ल० स० अर्थात् १४४६ ई० में धीरसिंह राज्य करते थे। इसलिए ३२७ ल० स० के बाद ही भैरवसिंह राज्य-सिंहासन पर चढ़े होंगे। अतएव यह कहा जा सकता है कि ३२७ ल० स० ही के पश्चात् विद्यापति ने 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' लिखी थी। भैरवसिंह के राज्यकाल में ही विद्यापति की मृत्यु हुई होगी क्योंकि भैरवसिंह के पश्चात् पुनः विद्यापति की कोई चर्चा नहीं देख पड़ती है।"[१]

वंश-परिचय—विद्यापति के पूर्वजों का परिचय तत्कालीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों और पंजीप्रबंधों में प्राप्त होता है। इनके पूर्वज सभी धुरन्धर विद्वान् थे और सभी ने किसी न किसी महान् ग्रंथ का प्रणयन किया था। डा० सुभद्र झा ने लिखा है—"विद्वानों के ऐसे यशस्वी परिवार में विद्यापति का जन्म हुआ जो अपने परम्परागत विद्या-ज्ञान के लिए प्रसिद्ध था।"[२] ये लोग प्रायः मिथिला के भिन्न-भिन्न राजाओं के प्रधान कर्मचारी थे। १३२६ ई० में राजा हरिसिंह देव की आज्ञानुसार मिथिला-पंजी (पाञ्जि-१) की रचना हुई जिसके अनुसार विद्यापति की वंशावली इस प्रकार है—

१—विद्यापति ठाकुर, पृष्ठ ४७-४८

2—Songs of VidyaPati, page 20.

विष्णु ठाकुर
|
हरादित्य ठाकुर
|
(गढ़ विसपी निवासी त्रिपाठी) कर्मादित्य ठाकुर
|
देवादित्य प्रसिद्ध शिवादित्य ठाकुर
|
वीरेश्वर ठाकुर — धीरेश्वर ठाकुर — गणेश्वर — जटेश्वर — हरदत्त आदि

- वीरेश्वर ठाकुर
  - चण्डेश्वर ठाकुर
- धीरेश्वर ठाकुर
  - जयदत्त ठाकुर
    - गणपति ठाकुर
      - (राजपंडित महामहोपाध्याय विसपी ग्रामोपार्जक) विद्यापति ठाकुर

इसके बाद अभी तक विद्यापति के वर्तमान वंशजों के नाम पंजी में पाये जाते हैं।

डा० उमेश मिश्र के अनुसार विद्यापति का वंश-वृक्ष यह है—

विष्णु ठाकुर
|
हरादित्य ठाकुर
|
कर्मादित्य
|
देवादित्य (शिवादित्य) — भवादित्य

- देवादित्य (शिवादित्य)
  - वीरेश्वर
    - चण्डेश्वर
    - गणेश्वर
      - रामदत्त
      - गोविन्ददत्त
  - धीरेश्वर
    - कीर्त्ति ठाकुर
    - जयदत्त ठाकुर
      - गौरीपति
      - गणपति
        - विद्यापति
      - एक कन्या
  - गणेश्वर
  - जटेश्वर
  - हरदत्त
  - लक्ष्मीश्वर
  - शुभदत्त
- भवादित्य

विद्यापति बंगाली थे—विद्यापति के विषय में यह धारणा कि ये बंगाली थे,

दिनो तक प्रचलित रही। बंगालियो ने इस धारणा को सुदृढ करने के यथासंभव सभी प्रयास किए क्योंकि वे विद्यापति की काव्य-प्रतिभा से अत्यंत प्रभावित हुए और विद्यापति के प्रति उनके मन मे इतना मोह सगग हुआ कि वे इन्हे अपने साहित्य से विलग करने में किसी भी मूल्य पर तैयार नही थे। इनके पदो मे महाप्रभु चैतन्य को जो भक्ति-रस और तज्जन्य भाव-विभोरता प्राप्त हुई उसने बंगालियो के इस मोह को दृढतर ही किया। परिणामत विद्यापति और चडीदास बगला-साहित्य के आदि कवि माने जाने लगे। श्री त्रैलोक्यनाथ भट्टाचार्य के शब्दो मे—"विद्यापति और चडीदास की अतुलनीय प्रतिभा से समस्त बग-साहित्य उज्ज्वल और सजीव हुआ है। वैष्णव गोविन्ददास और ज्ञानदास से लेकर हिन्दू बकिमचन्द्र और ब्राह्म रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक सब ही उन लोगों की आभा से आलोकित हैं, और उन लोगों का अनुकरण करके कविता-रचना में व्यस्त पाये जाते हैं।"

यही नही, बग-वासियो ने विद्यापति की जन्मभूमि भी जैशोर ज़िला में बना ली और शिवसिंह नामक एक बगाली राजा तथा रानी लखिमादेवी भी ढूढ निकाली।

विद्यापति मैथिल थे—जून १८७५ ई० मे राजकृष्ण मुखोपाध्याय ने 'बग-दर्शन' मे एक निबंध लिखा जिसमे उन्होने सिद्ध किया कि विद्यापति बगाली नही, मैथिल थे। तदनन्तर एक भीषण विवाद का श्रीगणेश हो गया जो आज बिलकुल समाप्त हो चुका है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, जस्टिस शारदाचरण मिश्र, बाबू नगेन्द्रनाथ गुप्त आदि सभी बगीय विद्वानो ने यह स्वीकार कर लिया है कि विद्यापति मैथिल थे और इनकी भाषा भी मैथिली है।

विद्यापति को मैथिल सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किए जाते हैं—

१ विद्यापति की भाषा मिथिला है क्योंकि मैथिली भाषा मे लिगों और क्रियाओं के जो विभिन्न रूप पाये जाते हैं वे बंगला मे नहीं मिलते। विद्यापति की भाषा मे लिगों और क्रियाओ के विभिन्न रूप है। इनके अतिरिक्त विद्यापति की भाषा में कुछ ऐसे शब्द भी मिलते हैं जो केवल मैथिल भाषा में ही प्रयुक्त होते है। यथा—चुमा ओल, पुरहर, खोंइछा, हकार आदि।

२. विद्यापति की रचनाओ मे मिथिला के राजाओं के नाम मिलते हैं। यथा—शिवसिंह, भोगेश्वर, गणेश्वर, कीर्तिसिंह, कीर्तिसिंह, भवसिंह, हरिसिंह आदि।

३ विद्यापति की शैवसर्वस्वसार, गगावाक्यावली, दानवाक्यावली, गयापत्तलक, विभागसार आदि पुस्तकें दरभगा राजकीय पुस्तकालय मे तथा लालगज, नडुआर, सौराठ, सखवाड, नवानी, चम्पा, नतौर आदि मिथिला के गावों मे पाई जाती हैं।

४. विद्यापति ने अपने आश्रयदाताओं के वर्णन मे जिस नदी (वाग्वती) और स्थान (सकरी) का उल्लेख किया है ये दोनों मिथिला के अतर्गत ही हैं।

५. विद्यापति के वंशज नारायण ठाकुर के द्वारा ल० सं० ५०४ के माघ कृष्ण १ में तालपत्र पर लिखी हुई पुरुष-परीक्षा कलकत्ता विश्वविद्यालय के अध्यापक कोइलख (दरभंगा) ग्राम निवासी पं० बबुआजी मिश्र के घर में है जिसके अन्त में यह श्लोक है—

"वेद॑ पंचाशते॑ गौडे माघे च प्रथमे तिथौ।
नारायणेन लिखिता पुस्ती विद्यापतेः कवेः॥"

६. विद्यापति की स्वहस्तलिखित श्रीमद्भागवत तरौनी गांव के स्वर्गीय लोकनाथ झा के घर में थी। कुछ वर्ष हुए, दरभंगा-राज ने उक्त पुस्तक खरीद कर राज-पुस्तकालय में रख दी है। पुस्तक के अन्त में लिखा हुआ है—

"ल० सं ३०९ श्रावण सुदी १५ कुजे रजाबनौली ग्रामे विद्यापतेर्लिपिरियमिति।"

७. उग (द) ना की कथा, मृत्यु के समय गंगा का आह्वान आदि किवदन्तियां मिथिला में प्रचलित हैं।

८. विद्यापति की चिता और उस पर शिव मंदिर बाजितपुर स्टेशन के पास अभी तक वर्तमान है।

९. राजा शिवसिंह का दिया हुआ ताम्रपत्र पिंडारुछ (दरभंगा) निवासी बाबू रतिकांत चौधरी के यहां अभी तक वर्तमान है।

१०. सन् १३२६ ई० में राजा हरिसिंह देव की आज्ञानुसार मिथिला के जिन पञ्जों की रचना हुई उनमें विद्यापति की वंशावली पाई जाती है।

११. विद्यापति के शिव-संबंधी पद आज भी मिथिला के शिव-मंदिरों में गाए जाते हैं। शृंगारी पदों में से भी अनेक पद लोक-गीत के रूप में विवाह आदि के अवसरों पर गाए जाते हैं।

१२. 'कीर्तिलता' की एक प्रति मिथिला के ख्याति प्राप्त विद्वान् एवं कवि चन्द्र झा के यहां मिली है।

किवदन्तियां—किसी महापुरुष अथवा वस्तु के विषय में मौखिक रूप से परम्परागत प्रचलित कहानियों को किवदन्तियां कहते हैं। प्रत्येक महापुरुष के जीवनवृत्त में जनता अपनी श्रद्धा से वशीभूत होकर कुछ अलौकिक घटनाओं का समावेश कर लेती है। यही श्रद्धा किवदन्ती के रूप में युग-युगों तक सजीव रहती है। किवदन्तियां कोरी कल्पना नहीं होतीं, उनका सत्य अतिशयोक्ति के आचरण में अन्तर्निहित होता है। श्री शिवप्रसादसिंह के शब्दों में—"निजंधरी (Legend) का अर्थ ही है जनता के भावों से अलंकृत ऐतिहासिक सामग्री (Folk-embroidered from historical material) यह अलंकरण जितना ही अधिक घना होता है, ऐतिहासिक सामग्री का रूप उतना ही धूमिल। इस कारण निजंधरी कथाओं के पेट में से सत्यांश को निकाल पाना बहुत

लिखे गये हैं उनसे विद्यापति के युग का पर्याप्त इतिहास प्राप्त होता है।

४. शैवसर्वस्वसार—यह ग्रंथ महाराज पद्मसिंह की रानी विश्वासदेवी की आज्ञा से लिखा गया है। इसमें शिव-पूजन आदि पर विस्तार से विचार किया गया है।

५. शैवसर्वस्वसार-प्रमाणभूतपुराणसंग्रह—इसमें भी प्रायः वे ही बातें हैं जो शैवसर्वस्वसार में हैं।

६. गंगावाक्यावली—यह पुस्तक भी रानी विश्वासदेवी की आज्ञा से लिखी गई थी। इसमें गंगा जी के पूजन आदि की विधि और वर्णन हैं।

७. विभागसार—यह ग्रंथ महाराज नरसिंहदेव के राज्यकाल में प्रणीत हुआ। इस ग्रंथ में सम्पत्ति-विभाजन के नियम वर्णित हैं।

८. दानवाक्यावली—इस पुस्तक का प्रणयन रानी धीरमतिदेवी की आज्ञा से हुआ। इसमें सभी प्रकार के दानों की विधियां बतलाई गई हैं। साथ ही उन वस्तुओं का भी वर्णन है जो विद्यापति के समय में प्रयोग किए जाते थे।

९. दुर्गाभक्तितरंगिणी—यह ग्रंथ महाराज भैरवसिंह की आज्ञा से रचा गया। मिथिला में होने वाली दुर्गा की पूजाओं की विधियां इसमें वर्णित हैं।

१०. गयापत्तलक—इसमें गया-श्राद्ध सम्बन्धी सभी बातों की विवेचना है।

११. वर्षकृत्य—इसमें वर्षभर के सभी शुभ कर्मों का विधान दिया हुआ है।

अवहट्ट की रचनाएं

१. कीर्तिलता—इसमें महाराज कीर्तिसिंह की वीरता का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक की रचना का उद्देश्य स्वयं कवि ने इस प्रकार बताया है—

"श्रोतुर्दातुर्वदान्यस्य कीर्तिसिंह महीपतेः।
करोति कवितुः काव्यं भव्यं विद्यापतिः कविः॥"

अर्थात् महाराज कीर्तिसिंह काव्य सुनने वाले, दान देने वाले, उदार तथा कविता करने वाले हैं। इनके लिए कवि विद्यापति सुन्दर मनोहर काव्य की रचना करते हैं। इस पुस्तक में तत्कालीन युगीन-परिस्थितियों पर अत्यधिक प्रकाश पड़ता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत में "भाषा के अध्ययन की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व है ही, काव्यरूपों के अध्ययन की दृष्टि से भी यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।"[1]

२. कीर्तिपताका—इस पुस्तक में महाराज शिवसिंह की कीर्तिपताका का वर्णन है।

मैथिली की रचनाएं :

१. पदावली—यह पुस्तक विद्यापति के पदों का संग्रह है। ये पद प्रधान रूप से तीन वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं—शृंगारिक, भक्ति-परक और विविध-विषयक।

१—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ १६

२. गोरक्ष विजय—यह चार अंक का एक नाटक है। इसकी भाषा संस्कृत और मैथिली का संमिश्रण है।

इन रचनाओं के अतिरिक्त विद्यापति के नाम से दो पुस्तकें और मिली हैं। एक है 'पांडव विजय' और दूसरी है 'मणिमंजरी', किन्तु अभी तक परिपुष्ट प्रमाण के अभाव में इनके विषय में असंदिग्ध रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

: २ :

विद्यापति का युग

काव्य को केवल कल्पना के मंजुल पंखों के सहारे स्वर्णिम लोकों का विवरण-मात्र समझने वाले कतिपय आलोचक भले ही कवि और उसके युग का कोई सम्बन्ध न मानें, परन्तु इन दोनों का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। कवि युग-स्रष्टा होते हुए भी अपने युग से प्रभावित होता है। अपने युग की परिस्थितियों से पलायन करके उस निर्जन प्रदेश में छिपने वाले कवि, जहां सागर-लहरी अम्बर के कानों में निश्छल प्रेम-कथा कहती हो, अमर काव्य की सृष्टि नहीं कर सकते। अमर काव्य के लिए युग से गठबंधन और उसकी परिस्थितियों से आलिंगन अनिवार्य है क्योंकि साहित्य मूलतः भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति है[1] 'रंग-बिरंगे और सर्वदा परिवर्तनशील आवरण, जिसे हम यथार्थता या जीवन कहते हैं, के पीछे अन्तर्निहित शाश्वत भावनाओं का प्रकाशन है।'[2] फलतः प्रत्येक महाकवि का काव्य उसके युग की प्रतिच्छाया होता है। उसके युग की परिस्थितियों का अध्ययन किए बिना न तो उस कवि के काव्य का ही सही मूल्यांकन हो सकता है और न कवि के प्रति समुचित न्याय ही किया जा सकता है। परिस्थितियों के दृष्टिकोण से किसी भी युग को तीन वर्गों में रक्खा जा सकता है—राजनीतिक परिस्थितियां, धार्मिक परिस्थितियां और साहित्यिक परिस्थितियां।

राजनीतिक परिस्थितियां—राजनीतिक दृष्टिकोण से विद्यापति का युग अत्यन्त अस्त-व्यस्तता और विक्षुब्धता का युग था। इस समय तक उत्तरी भारत में मुसलमानों का आधिपत्य हो गया था। मिथिला-नरेश गणेश्वर की असलान द्वारा हत्या कर दी गई थी, इससे समूचे प्रदेश में अराजकता की प्रचंड लहर दौड़ गई थी। मुसलमान हर मूल्य पर अपने शासन की नींव दृढ़ करना चाहते थे। वे जनता को राजनीतिक और धार्मिक दोनों दृष्टियों से वशीभूत करने के इच्छुक ही नहीं, प्रयत्नशील भी थे। जनता नये शासकों

---

1. It is thus fundamentally an expression of life through the medium of language : *An introduction to the study of literature*, *Page 10*

2. ...... it is the revelation of those eternal ideas which lie behind the many-coloured, ever-shifting veil that we call reality or life. —*Oxford lecture on Poetry, Page 153*

को अपनाने में असमर्थ हो रही थी परिणामतः मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं पर मनमाने तथा अमानुषिक अत्याचार हो रहे थे। पं० शिवनन्दन ठाकुर के शब्दों में—

"मुसलमानों के कुव्यवहार से हिन्दू-जाति की दुर्दशा हो गई थी। हिन्दू-जाति के राजा हिन्दुओं की भरपूर सहायता करने के लिए, अपने विरोधियों को तलवार के बल हटा देने के लिए स्वयं ही देश, धर्म और हिन्दू-जाति के नाम पर मर-मिटने को तैयार थे। इस अवस्था में कभी जय, कभी पराजय, कभी उत्साह, कभी विषाद, कभी धर्म-परायणता के कारण मृत्यु से भी नहीं डरना, कभी बलात्कार से अधर्म की शरण लेना आदि विरोधी घटनाएं तो प्रतिदिन ही हुआ करती थीं।"[1] इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से विद्यापति का युग अशांत और विक्षोभयुक्त था। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में इन परिस्थितियों और तज्जन्य प्रभावों का वर्णन करते हुए लिखा है कि मिथिला में कोई गुण अवशिष्ट नहीं रहा। कवि लोग भिक्षुक बनकर मारे-मारे फिरते रहे—

"ठाक्कुर रस बुज्झनिहार नहिं कवि कुल भमि भिक्खारि भउं।
तिरहुत तिरोहित सब्ब गुणे रा' गणेस जब सग्ग गउं।"[2]

धार्मिक परिस्थितियां—उपर्युक्त राजनीतिक हलचलों से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय धर्म की क्या अवस्था होगी? बलात् धर्म परिवर्तन तो हो ही रहे थे, भारत वाले स्वयं भी अनेक सम्प्रदायों में बंटे हुए थे और प्रत्येक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को नीचा दिखाकर स्वयं सर्वश्रेष्ठ होना चाहता था। वैष्णव, शैव और शाक्तों का तो समूचे देश में ही बोल-बाला था। मिथिलावासी धर्म के सम्बन्ध में अत्यन्त सहिष्णु थे। वे लोग धर्म के नाम पर लड़ने वाले न थे, बल्कि समन्वयवादी थे। उनकी इसी समन्वय-भावना की ओर इंगित करते हुए पं० शिवनन्दन ठाकुर लिखते हैं—

"मिथिला के चूडांत विद्वानों की तो बात ही क्या, उनकी छत्रच्छाया में सुख और शांति से सोती हुई मिथिला की साधारण जनता पर भी किसी विरोधी धर्म का जरा भी प्रभाव नहीं पड़ा। निश्चित रूप से यह बतलाना कठिन है कि वैष्णव और शैव दो प्रकार के भक्त मिथिला में थे या नहीं, किन्तु इतना निश्चित है कि दो भक्ति-मार्गों के होने पर भी दोनों में जरा भी विद्रोह नहीं था। विद्यापति की रचना इस बात की साक्षी है। मिथिला में विष्णु और शिव एक ही देव के दो रूप माने जाते थे। दोनों को एक मानकर भी वैष्णव विष्णु के रूप में और शैव शिव की उपासना करते थे। यही दोनों में अन्तर था। वैष्णव शिव की और शैव विष्णु की निंदा कभी भी नहीं करते थे।"[3]

यही समन्वय-भावना विद्यापति के काव्य में चरम कोटि को पहुंच गई है जिसके

१—महाकवि विद्यापति, पृष्ठ ७३
२—कीर्तिलता, पृ० २, १४-१५
३—महाकवि विद्यापति, पृष्ठ ७२-७३

कारण इनके धार्मिक सम्प्रदाय का निर्णय विवाद का विषय बना हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यापति के समय मे मिथिला मे पुराणो की यह मान्यता कि पंचदेवों—सूर्य, गणेश, दुर्गा, विष्णु, अग्नि और शिव—की पूजा के बाद ही इष्टदेव की पूजा का अधिकार प्राप्त होता है—

"गणेशञ्च दिनेशञ्च वह्नि विष्णु शिवं शिवाम्।
सम्पूज्य देवषटकञ्च सोऽधिकारी च पूज्यते।"

आज भी मिथिला मे पचदेवो की पूजा का प्रचलन है।

साहित्यिक परिस्थितियाँ—विद्यापति से पूर्व हिन्दी साहित्य की दो धारायें पूर्ण-रूप से परिपक्व होकर अवसानप्राय थी। एक थी अपभ्रंश-काव्यधारा और दूसरी थी देशभाषा-काव्यधारा। सिद्धो और योगियो की विशेषताए तथा रासोकाल की महानताए सभी विद्यापति के युग मे पुंजीभूत हो गई थी। कवि के राजाश्रित होने की परपरा अक्षुण्ण थी। विद्यापति के सभी पूर्वज किसी न किसी मिथिला-नरेश के दरबारी कवि भी थे और प्रधान कर्मचारी भी। स्वय विद्यापति को भी अनेक राजा-रानियो के सरक्षण मे रहना पड़ा और उनकी आज्ञाओ के अनुसार अपनी कृतियो का सृजन करना पड़ा। स्पष्टत इस काल का साहित्य तत्कालीन राजवशो के सरक्षण मे फूला और फला।

यहा पर यह बात विचारणीय है कि राजदरबारी होते हुए भी यह साहित्य रीतिकालीन साहित्य की प्रवृत्ति से भिन्न है। रीतिकालीन साहित्य लोकपक्ष से दूर—बहुत दूर—केवल पाडित्य-प्रदर्शन की या अपने आश्रयदाताओ के होठो पर स्मित-रेखा खीचने के प्रयास की आधार-शिला पर टिका हुआ है, किन्तु यह साहित्य न तो लोकपक्ष से दूर है और न इसमे आश्रयदाताओ की चाटुकारी का ही प्रयास है। इसमे राजनीतिक इतिहास है, धार्मिक भावनाओ का मोह है, साहित्यिक परम्परा का पालन है और लोक-कल्याण की चिन्ता है। केवल विद्यापति की समस्त रचनाओ पर दृष्टिपात करने से ही इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। इस प्रसग मे श्री शिवप्रसादसिह के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—

"विद्यापति दरबारी कवि थे। दरबारी कवि होना कोई बहुत अच्छी बात नहीं मानी जाती। मध्ययुग के दरबारी कवियो के प्रति हमारे मन मे श्रद्धा का प्राय अभाव पाया जाता है, क्योकि हम यह मानते हैं कि इस प्रकार के कवियो ने कविता को जन-मानस की अधीश्वरी के स्थान से हटाकर उसे दरबार की नर्तकी बना दिया। उन्होने काव्य के महत् उद्देश्य के साथ व्यभिचार किया, किन्तु विद्यापति इनसे भिन्न हैं। दरबारो के वाक्चिवय, योग-वैभव और दम-घोट वातावरण मे इनकी आत्मा मरी नही। दरबारो से इन्होने जीवन का रस ग्रहण किया। उस वातावरण से इन्होने कई प्रकार के अनुभव

प्राप्त किये जिनसे इनके जीवन में एक विशेष प्रकार का अभिजात संस्कार हुआ।''[1]

तत्कालीन अन्य कवियों की भांति विद्यापति की काव्य-प्रतिभा भी दरबारों में विकसित, पल्लवित और पुष्पित हुई। अतः इनसे संबद्ध उन राजवंशों के इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात अनुपयुक्त न होगा।

तत्कालीन राजवंश—राजा नान्यदेव मिथिला के सर्वप्रथम ऐतिहासिक नरेश हैं। इन्होंने तथा इनके वंशजों ने २२६ वर्ष तक राज्य किया। तदुपरांत मिथिला का राज्य मथिल ब्राह्मणों के आधिपत्य में आ गया। ये मैथिल ब्राह्मण 'ओइनी' ग्राम के उपार्जक थे, इसीलिए 'ओइनिवार' ब्राह्मण कहलाते थे। ओइनिवार ब्राह्मणों के सर्वप्रथम राजा राजपण्डित सिद्ध कामेश्वर थे जिन्होंने राज्य के प्रति उदासीनता दिखला कर राज्यभार अपने ज्येष्ठ पुत्र योगीश्वर ठाकुर को दे दिया। इन्होंने ३३ वर्ष तक राज्य किया।

योगीश्वर के बाद गणेश्वर राजा हुए जो अत्यन्त नीतिनिपुण और सर्वगुण-सम्पन्न थे। इन्होने ११ वर्ष तक राज्य किया। इनके तीन पुत्र थे—वीरसिंह, कीर्त्तिसिंह और राजसिंह। वीरसिंह एक युद्ध में काम आए, इसीलिए कीर्त्तिसिंह को शासन-भार सौंपा गया। ये तीनों भाई निःसन्तान थे, फलतः कीर्त्तिसिंह के बाद मिथिला का राज्य कीर्त्तिसिंह के पितामह-भ्रातृपुत्र देवसिंह को दिया गया। देवसिंह महाराज भवसिंह की दूसरी स्त्री के पुत्र थे। महाराज भवसिंह की विद्यापति ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

देवसिंह ने अपना उपनाम 'गरुड़ नारायण' रक्खा और अपनी राजधानी दरभंगा बनाई। देवसिंह प्रजापालक और दानवीर थे। इनके समय में विद्यापति ने बहुत सी कविताएं लिखीं और संस्कृत में 'भूपरिक्रमा' नामक ग्रंथ की रचना की।

देवसिंह के दो पुत्र हुए—शिवसिंह और पद्मसिंह। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण शिवसिंह राजा बने और इन्होंने अपना उपनाम 'रूपनारायण' रक्खा (यह बात अभी तक विवादग्रस्त है कि रूपनारायण इन्हीं का उपनाम था, अथवा कोई अन्य राजा था जिसके आश्रय में विद्यापति रहे क्योंकि इस नाम के अन्य राजा भी इस वंश में हुए हैं)। इन्होंने अपनी राजधानी देवकुली से हटाकर गजरथपुर (उपनाम शिवपुरी) में स्थापित की।

शिवसिंह की अनेक रानियां थीं जिनमें लक्ष्मणा देवी (लखिमादेवी) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि विद्यापति ने अपने पदों में इन्हीं को सम्बोधित किया है। ये बड़ी पण्डिता थीं और संस्कृत में अनेक ग्रंथों की प्रणयनकर्त्री हैं। लखिमा के पांडित्य के विषय में अनेक किंवदन्तियां प्रचलित हैं। कहते हैं कि उस समय के सबसे महान् पंडित और दार्शनिक लखिमा का पांडित्य सुनकर उनसे शास्त्रार्थ करने आ रहे थे कि मार्ग में लखिमा दासी का वेश बनाकर और घड़ा लेकर उनके पास पहुंच गई और उन्हें घूर-घूरकर देखने लगी। इस बात पर असंतुष्ट होकर [illegible]

१—विद्यापति, पृष्ठ ८-९

प्राप्त किये जिनसे इनके जीवन में एक विशेष प्रकार का अभिजात संस्कार हुआ।"[1]

तत्कालीन अन्य कवियों की भांति विद्यापति की काव्य-प्रतिभा भी दरबारों में विकसित, पल्लवित और पुष्पित हुई। अतः इनसे संबद्ध उन राजवंशों के इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात अनुपयुक्त न होगा।

तत्कालीन राजवंश—राजा नान्यदेव मिथिला के सर्वप्रथम ऐतिहासिक नरेश हैं। इन्होंने तथा इनके वंशजों ने २२६ वर्ष तक राज्य किया। तदुपरांत मिथिला का राज्य मैथिल ब्राह्मणों के आधिपत्य में आ गया। ये मैथिल ब्राह्मण 'ओइनी' ग्राम के उपार्जक थे, इसीलिए 'ओइनिवार' ब्राह्मण कहलाते थे। ओइनिवार ब्राह्मणों के सर्वप्रथम राजा राजपण्डित सिद्ध कामेश्वर थे जिन्होंने राज्य के प्रति उदासीनता दिखला कर राज्यभार अपने ज्येष्ठ पुत्र योगीश्वर ठाकुर को दे दिया। इन्होंने ३३ वर्ष तक राज्य किया।

योगीश्वर के बाद गणेश्वर राजा हुए जो अत्यन्त नीतिनिपुण और सर्वगुण-सम्पन्न थे। इन्होने ११ वर्ष तक राज्य किया। इनके तीन पुत्र थे—वीरसिंह, कीर्त्तिसिंह और राजसिंह। वीरसिंह एक युद्ध में काम आए, इसीलिए कीर्त्तिसिंह को शासन-भार सौंपा गया। ये तीनों भाई निःसन्तान थे, फलतः कीर्त्तिसिंह के बाद मिथिला का राज्य कीर्त्तिसिंह के पितामह-भ्रातृपुत्र देवसिंह को दिया गया। देवसिंह महाराज भवसिंह की दूसरी स्त्री के पुत्र थे। महाराज भवसिंह की विद्यापति ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

देवसिंह ने अपना उपनाम 'गरुड़ नारायण' रक्खा और अपनी राजधानी दरभंगा बनाई। देवसिंह प्रजापालक और दानवीर थे। इनके समय में विद्यापति ने बहुत सी कविताएं लिखीं और संस्कृत में 'भूपरिक्रमा' नामक ग्रंथ की रचना की।

देवसिंह के दो पुत्र हुए—शिवसिंह और पद्मसिंह। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण शिवसिंह राजा बने और इन्होंने अपना उपनाम 'रूपनारायण' रक्खा (यह बात अभी तक विवादग्रस्त है कि रूपनारायण इन्हीं का उपनाम था, अथवा कोई अन्य राजा था जिसके आश्रय में विद्यापति रहे क्योंकि इस नाम के अन्य राजा भी इस वंश में हुए हैं)। इन्होंने अपनी राजधानी देवकुली से हटाकर गजरथपुर (उपनाम शिवपुरी) में स्थापित की।

शिवसिंह की अनेक रानियां थीं जिनमें लक्ष्मणा देवी (लखिमादेवी) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि विद्यापति ने अपने पदों में इन्हीं को सम्बोधित किया है। ये बड़ी पण्डिता थीं और संस्कृत में अनेक ग्रंथों की प्रणयनकर्त्री हैं। लखिमा के पांडित्य के विषय में अनेक किंवदन्तियां प्रचलित हैं। कहते हैं कि उस समय के सबसे महान् पंडित और दार्शनिक लखिमा का पांडित्य सुनकर उनसे शास्त्रार्थ करने आ रहे थे कि मार्ग में लखिमा दासी का वेश बनाकर और घड़ा लेकर उनके पास पहुंच गईं और उन्हें घूर-घूरकर देखने लगी। इस बात पर असंतुष्ट होकर [illegible]

१—विद्यापति, पृष्ठ ८-९

कारण इनके धार्मिक सम्प्रदाय का निर्णय विवाद का विषय बना हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यापति के समय में मिथिला में पुराणों की यह मान्यता कि पंचदेवों—सूर्य, गणेश, दुर्गा, विष्णु, अग्नि और शिव—की पूजा के बाद ही इष्टदेव की पूजा का अधिकार प्राप्त होता है—

"गणेशञ्च दिनेशञ्च वह्निं विष्णुं शिवं शिवाम् ।
सम्पूज्य देवपटकञ्च सोऽधिकारी च पूज्यते ।"

आज भी मिथिला में पचदेवों की पूजा का प्रचलन है।

साहित्यिक परिस्थितियाँ—विद्यापति से पूर्व हिन्दी साहित्य की दो धारायें पूर्ण-रूप से परिपक्व होकर प्रवमानप्राय: थीं। एक थी अपभ्रंश-काव्यधारा और दूसरी थी देशभाषा-काव्यधारा। सिद्धों और योगियों की विशेषताएं तथा रासोकाल की महानताए सभी विद्यापति के युग में पुंजीभूत हो गई थीं। कवि के राजाश्रित होने की परपरा अक्षुण्ण थी। विद्यापति के सभी पूर्वज किसी न किसी मिथिला-नरेश के दरबारी कवि भी थे और प्रधान कर्मचारी भी। स्वयं विद्यापति को भी अनेक राजा-रानियों के सरक्षण में रहना पडा और उनकी आज्ञाओं के अनुसार अपनी कृतियों का सृजन करना पड़ा। स्पष्टत इस काल का साहित्य तत्कालीन राजवशों के सरक्षण में फूला और फला।

यहा पर यह बात विचारणीय है कि राजदरबारी होते हुए भी यह साहित्य रीतिकालीन साहित्य की प्रवृत्ति से भिन्न है। रीतिकालीन साहित्य लोकपक्ष से दूर—बहुत दूर—केवल पाडित्य-प्रदर्शन की या अपने आश्रयदाताओं के होठों पर स्मित-रेखा खीचने के प्रयास की आधार-शिला पर टिका हुआ है, किन्तु यह साहित्य न तो लोकपक्ष से दूर है और न इसमें आश्रयदाताओं की चाटुकारी का ही प्रयास है। इसमें राजनीतिक इतिहास है, धार्मिक भावनाओं का मोह है, साहित्यिक परम्परा का पालन है और लोक-कल्याण की चिन्ता है। केवल विद्यापति की समस्त रचनाओं पर दृष्टिपात करने से ही इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। इस प्रसग में श्री शिवप्रसादसिंह के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—

"विद्यापति दरबारी कवि थे। दरबारी कवि होना कोई बहुत अच्छी बात नहीं मानी जाती। मध्ययुग के दरबारी कवियों के प्रति हमारे मन में श्रद्धा का प्राय. अभाव पाया जाता है, क्योंकि हम यह मानते हैं कि इस प्रकार के कवियों ने कविता को जन-मानस की अधीश्वरी के स्थान से हटाकर उसे दरबार की नर्तकी बना दिया। उन्होंने काव्य के महत् उद्देश्य के साथ व्यभिचार किया, किन्तु विद्यापति इनसे भिन्न हैं। दरबारों के वाकचिवय, भोग-वैभव और दम-घोट वातावरण में इनकी आत्मा मरी नहीं। दरबारों से इन्होंने जीवन का रस ग्रहण किया। उस वातावरण से इन्होंने कई प्रकार के अनुभव

प्राप्त किये जिनसे इनके जीवन में एक विशेष प्रकार का अभिजात संस्कार हुआ।''[१]

तत्कालीन अन्य कवियों की भांति विद्यापति की काव्य-प्रतिभा भी दरबारों में विकसित, पल्लवित और पुष्पित हुई। अतः इनसे सबद्ध उन राजवशों के इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात अनुपयुक्त न होगा।

तत्कालीन राजवंश—राजा नान्यदेव मिथिला के सर्वप्रथम ऐतिहासिक नरेश हैं। इन्होंने तथा इनके वंशजों ने २२६ वर्ष तक राज्य किया। तदुपरांत मिथिला का राज्य मथिल ब्राह्मणों के आधिपत्य में आ गया। ये मैथिल ब्राह्मण 'ओइनी' ग्राम के उपार्जक थे, इसीलिए 'ओइनिवार' ब्राह्मण कहलाते थे। ओइनिवार ब्राह्मणों के सर्वप्रथम राजा राजपण्डित सिद्ध कामेश्वर थे जिन्होंने राज्य के प्रति उदासीनता दिखला कर राज्यभार अपने ज्येष्ठ पुत्र योगीश्वर ठाकुर को दे दिया। इन्होंने ३३ वर्ष तक राज्य किया।

योगीश्वर के बाद गणेश्वर राजा हुए जो अत्यन्त नीतिनिपुण और सर्वगुण-सम्पन्न थे। इन्होने ११ वर्ष तक राज्य किया। इनके तीन पुत्र थे—वीरसिंह, कीर्त्तिसिंह और राजसिंह। वीरसिंह एक युद्ध में काम आए, इसीलिए कीर्त्तिसिंह को शासन-भार सौंपा गया। ये तीनों भाई निःसन्तान थे, फलतः कीर्त्तिसिंह के बाद मिथिला का राज्य कीर्त्तिसिंह के पितामह-भ्रातृपुत्र देवसिंह को दिया गया। देवसिंह महाराज भवसिंह की दूसरी स्त्री के पुत्र थे। महाराज भवसिंह की विद्यापति ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

देवसिंह ने अपना उपनाम 'गरुड़ नारायण' रक्खा और अपनी राजधानी दरभंगा बनाई। देवसिंह प्रजापालक और दानवीर थे। इनके समय में विद्यापति ने बहुत सी कविताएं लिखीं और संस्कृत में 'भूपरिक्रमा' नामक ग्रंथ की रचना की।

देवसिंह के दो पुत्र हुए—शिवसिंह और पद्मसिंह। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण शिवसिंह राजा बने और इन्होंने अपना उपनाम 'रूपनारायण' रक्खा (यह बात अभी तक विवादग्रस्त है कि रूपनारायण इन्हीं का उपनाम था, अथवा कोई अन्य राजा था जिसके आश्रय में विद्यापति रहे क्योंकि इस नाम के अन्य राजा भी इस वंश में हुए हैं)। इन्होंने अपनी राजधानी देवकुली से हटाकर गजरथपुर (उपनाम शिवपुरी) में स्थापित की।

शिवसिंह की अनेक रानियां थीं जिनमें लक्ष्मणा देवी (लखिमादेवी) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि विद्यापति ने अपने पदों में इन्हीं को सम्बोधित किया है। ये बड़ी पण्डिता थीं और संस्कृत में अनेक ग्रंथों की प्रणयनकर्त्री हैं। लखिमा के पांडित्य के विषय में अनेक किंवदन्तियां प्रचलित हैं। कहते हैं कि उस समय के सबसे महान् पंडित और दार्शनिक लखिमा का पांडित्य सुनकर उनसे शास्त्रार्थ करने आ रहे थे कि मार्ग में लखिमा दासी का वेश बनाकर और घड़ा लेकर उनके पास पहुंच गई और उन्हें घूर-घूरकर देखने लगी। इस बात पर असंतुष्ट होकर पंडित जी बोले—

१—विद्यापति, पृष्ठ ८-९

"किं मां निरीक्षसि घटेन कटिस्थितेन, वक्त्रेण चारुपरिमीलितलोचनेन।
अन्य निरीक्ष पुरुषं तव कार्ययोग्यं, नाहं घटाङ्कितकटिं प्रमदां स्पृशामि॥"

अर्थात् कमर पर घड़ा रखकर चतुरता के साथ आँखें मूंद-मूंदकर मेरी ओर क्या देख रही हो ? अपने कार्य-योग्य किसी दूसरे पुरुष की ओर देखो क्योंकि मैं घड़ा होने से चिह्नित कटि वाली स्त्री को छूता भी नहीं हूं।

लखिमा ने यह स्वर्णावसर हाथ से न जाने दिया। तुरन्त उत्तर दिया——

"सत्यं ब्रवीमि मकरध्वज बाणमुग्ध!
नाहं त्वदर्थमनसा परिचिन्तयामि।
दासोऽद्य मे विघटितस्तवतुल्यरूप
स त्वं भवेन्नहि भवेदिति मे वितर्कः॥"

अर्थात् हे काम पीडित ! मैं सत्य कहती हूं कि मैं तेरे विषय में मन से भी नहीं सोचती हूं। तेरे सदृश ही आज मेरा दास खो गया है। तू वही है या और कोई है, यही भ्रम मेरे मन में उत्पन्न हो रहा है।

एक और उदाहरण लीजिए। इसमें संख्यावाचक शब्दों के द्वारा अर्थ समझने में जितनी माथा-पच्ची करनी पड़ती है उतनी कदाचित् कबीर की उलटबासियां या सूर के दृष्टिकूटों के लिए भी अपेक्षित नहीं। जिसमें माथापच्ची न करनी पड़े वह पांडित्य-प्रदर्शन ही क्या ! अपनी पत्नि से उदासीन अपने जामाता को लखिमा यह संदेश भेजती है——

"सन्तप्ता दशमध्वजस्य गतिना संमूर्छिता निर्जले।
तुर्य द्वादश वत् द्वितीयमतिमत्येकादशा भस्तनी॥
सा षष्ठी कटि पंचमी च नवमभ्रू सप्तमी वर्जिता।
प्राप्तोऽष्टम वेदना त्वमधुना तूर्णं तृतीयो भव॥"

अर्थात् कामदेव के प्रवेश से सन्तप्त, जलहीन स्थान में मछली और केकड़े के समान मूर्छित, बैल के समान बुद्धिहीन, कुम्भसदृश स्तनों वाली, सिंह के समान पतली कमर वाली, धनुष के समान तिरछी भौंहों वाली, उचित न्याय न पाने वाली तुम्हारी पूर्व परिचित यह युवती बाला बिच्छू के डंक की वेदना के समान दुःखप्रद स्मरवेदना को प्राप्त हुई है, अतः तुम शीघ्र ही आकर गृहस्थ धर्म का पालन करो।

लखिमादेवी के इस प्रकांड पांडित्य पर शिवसिंह ही नहीं, विद्यापति भी मुग्ध थे। यही कारण है कि बंगाल में यह धारणा-सी बन गई है कि विद्यापति लखिमा के प्रति अनुरक्त थे और उनके देखे बिना विद्यापति की काव्य-प्रतिभा कुंठित हो जाती थी। इसी धारणा के आधार पर नरहरि कहते हैं——

"लखिमा रूपिणी राधा इष्ट वस्तु यार।
यारे देखि कविता स्फुरय शतधार॥"

किन्तु यह धारणा संगत प्रतीत नहीं होती क्योंकि विद्यापति कुलीन ब्राह्मण और महाराज शिवसिंह के राजपंडित थे। यदि लखिमा के प्रति इनका अनुराग होता तो वे शिवसिंह के प्रेमभाजन न बनकर कोपभाजन बनते। दूसरी बात यह है कि शिवसिंह की मृत्यु के पश्चात् लखिमादेवी तथा विद्यापति अनेक वर्षों तक जीवित रहे, परन्तु तब के पदों में विद्यापति ने लखिमा का नाम नहीं दिया क्योंकि पति के साथ ही पत्नी का नाम लेना भारत की प्राचीन प्रथा है। तीसरी बात यह है कि उस लड़ाई से पहले जिसमें शिवसिंह या तो मारे गये या पराजित होकर अज्ञातवासी बन गये, उन्होंने अपने परिवार को विद्यापति के साथ राजा पुरादित्य के पास भेजा था। इससे सिद्ध होता है कि विद्यापति पर और उनके सुदृढ़ चरित्र पर शिवसिंह को अगाध विश्वास था।

मैथिल इतिहासवेत्ताओं का मत है कि शिवसिंह के बाद लखिमादेवी ने १२ वर्ष तक राज्य किया, किन्तु यह बात किसी भी ठोस प्रमाण से पुष्ट नहीं होती। सच तो यह है कि शिवसिंह की मृत्यु अथवा अज्ञातवास के पश्चात् लखिमा सपरिवार पुरादित्य के संरक्षण में चली गई थी।

शिवसिंह के बाद उसके छोटे भाई पद्मसिंह गद्दी पर बैठे। इन्होंने केवल एक वर्ष तक ही राज्य किया। तत्पश्चात् इनकी रानी विश्वासदेवी ने राज्य-भार संभाला। विद्यापति ने इन्हीं के आदेश से 'शैवसर्वस्वसार', 'शैवसर्वस्वसार-प्रमाणभूतपुराणसंग्रह' तथा 'गंगावाक्यावली' की रचना की। इस समय से विद्यापति की प्रवृत्ति विशेषरूप से शिव और गंगा की भक्ति की ओर उन्मुख हुई।

विश्वासदेवी के बाद भवसिंह की तृतीय रानी के पुत्र हरिसिंह (हरसिंह) सिंहासनारूढ़ हुए। इनका वर्णन विद्यापति ने 'विभागसार' में किया है।

इसके बाद नरसिंहदेव (दर्पनारायण उपनाम) राजा हुए। इन्हीं की आज्ञा से विद्यापति ने 'विभागसार' ग्रंथ की रचना की। इनकी रानी धीरमति के आदेश से विद्यापति ने 'दानवाक्यावली' लिखी। नरसिंह के पश्चात् इनके ज्येष्ठ पुत्र धीरसिंह (हृदयनारायण उपनाम) राजा बने। धीरसिंह के बाद इनके छोटे भाई भैरवसिंह (हरिनारायण उपनाम ?) सिंहासन पर बैठे। इन्हीं की आज्ञा से विद्यापति ने 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' लिखी। ये अत्यन्त दयालु और प्रजापालक थे। वाचस्पति मिश्र (द्वितीय) ने लिखा है कि इन्होंने सैकड़ों तालाब खुदवाए; नगर, ग्राम, पत्तन आदि दान दिए और तुला-दान भी करवाए।

इनके अतिरिक्त विद्यापति की रचनाओं में राघवसिंह, रुद्रसिंह आदि के भी नाम मिलते हैं।

इन राजवंशों ने विद्यापति के कवि को अत्यन्त प्रभावित किया है और सच तो यह है कि इन वंशों का और विद्यापति का अटूट सम्बन्ध है। इनका परिचय प्राप्त किए बिना विद्यापति का जीवनवृत्त अधूरा ही नहीं रह जाता, वरन् इनके काव्य का सही

मूल्यांकन भी नही हो सकता। डा० उमेश मिश्र के शब्दों मे—

"विद्यापति का जीवन-काल राजाओं की सभा मे अनेक प्रकार के प्रकाड विद्वानों के साथ व्यतीत हुआ। इसलिए विद्यापति ने यद्यपि मैथिली भाषा की उन्नति ही मे अपना प्रधान समय लगाया, तथापि शास्त्रों का भी पूरा व्यवसाय रक्खा था। आजकल के भाषा-कवियों की तरह कोरे भाषा-कवि ही वह नहीं थे।"[1]

---

१. विद्यापति ठाकुर

: ३ :

विद्यापति का धर्म-सम्प्रदाय

किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना करने वाले व्यक्ति में मस्तिष्क की ही प्रधानता होती है। वह अपने सम्प्रदाय को तर्क-वितर्कों की नीरस कसौटी पर कसकर संवारता है और तब उसे कतिपय निर्णीत नियमों की परिधि में सीमित कर देता है। ये नियम ही उस सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए 'ब्रह्म-वाक्य' बन जाते हैं, किंतु मौलिक चिन्तक अनुयायी इन नियमों की महत्ता स्वीकार करते हुए भी प्रायः इनकी सीमित परिधि का जाने-अनजाने उल्लंघन कर जाते हैं। उनकी भावनाएं जब आवेशमयी हो जाती हैं तो सीमा के बन्धन तोड़कर, अंध-विश्वास और परम्परा के कगार गिराकर वे स्वच्छंद विचरण करने लगती हैं; और मस्तिष्क के नीरस तर्क-वितर्कों की अवहेलना करके, परम्परा के अंधानुकरण का परित्याग करके हृदय की सरस और मौलिक भावधारा में बहने लगती हैं। चाहे जिस किनारे पर लगें, इसकी मौलिक चिन्तकों को कोई चिन्ता नहीं होती। वे तो भावावेश में बस बह जाते हैं। यही कारण है कि कबीर का रहस्यवाद तत्कालीन अनेक सम्प्रदायों का 'विश्वकोश' बन गया है, तुलसी के राम का रूप अत्यन्त जटिल हो गया है और मीरां की भक्ति-साधना उलझ कर रह गई है।

ठीक यही बात विद्यापति के धर्म-सम्प्रदाय के विषय में भी लागू होती है। विभिन्न विद्वान् भिन्न-भिन्न तर्कों द्वारा विद्यापति के भिन्न-भिन्न धर्म-सम्प्रदाय सिद्ध करते हैं। फलतः इस विषय को लेकर विद्वानों में प्रमुख रूप से पांच वर्ग बन गए हैं। एक वर्ग इन्हें वैष्णव मानता है तो दूसरा पंचदेवोपासक। तीसरा एकेश्वरवादी कहता है तो चौथा शाक्त और पांचवा शैव। आज तक कोई भी वर्ग उस परिणाम पर नहीं पहुंच सका जो सभी वर्गों के विद्वानों को मान्य हो। संक्षेप में इन वर्गों का विवरण दिया जाता है।

वैष्णव—इस वर्ग के विद्वानों में डा० ग्रियर्सन, डा० श्यामसुन्दर दास, बाबू ब्रजनंदन सहाय, प्रो० विपिनविहारी मजूमदार और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं। डा० ग्रियर्सन का कहना है कि विद्यापति के 'लगभग सभी पद वैष्णव प्रार्थनाएं या भजन हैं।'[1]

डा० श्यामसुन्दरदास के मत में 'विद्यापति पर माध्व सम्प्रदाय का ही ऋण नहीं

---

1. They are nearly all Vaishnva hymns or *Bhajanas.*

है, उन्होंने विष्णुस्वामी तथा निम्बार्काचार्य के मतों को भी ग्रहण किया था।[1] इनके अनुसार विद्यापति को कृष्ण की चिर-प्रेयसि के रूप में राधा का स्वरूप विष्णुस्वामी और निम्बार्क-सम्प्रदाय से ही पहले-पहल प्राप्त हुआ था।

बाबू ब्रजनन्दन सहाय तो विद्यापति को 'वैष्णव-कवि-चूडामणि' विशेषण से अलंकृत करते हैं।

प्रो० विपिनबिहारी मजूमदार ने 'सर्चलाइट' में प्रकाशित अपने लेख में विद्यापति को वैष्णव सिद्ध करते हुए कहा है कि 'धनी होने पर भी दूसरों से न लिखवाकर विद्यापति ने भागवत की स्वयं रचना की।' प्रो० मजूमदार के लिए विद्यापति को वैष्णव मानने का यह प्रबल आधार है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"जो लोग विद्यापति के बारे में कहा करते हैं कि वे शैव थे, अतएव वैष्णव भक्त नहीं हो सकते, वे उस काल की इस मनःस्थिति को नहीं जानते। समूचा उत्तर भारत प्रधानरूप से स्मार्त था, शिव के प्रति उसकी अखंड भक्ति बनी हुई थी, परन्तु उसमें अपूर्व सहनशीलता का विकास हुआ था और विष्णु को भी वह उतना ही महत्त्वपूर्ण देवता मानता था। शिव सिद्धिदाता थे, विष्णु भक्ति के आश्रय।"[2]

इस वर्ग का एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह भी है कि महाकवि विद्यापति की महानता वैष्णव-विचारधारा के कारण ही है, क्योंकि इनकी महत्ता का मूल्यांकन सर्वप्रथम बंगाल के वैष्णव-भक्तों के द्वारा ही हुआ, जिनमें महाप्रभु चैतन्यदेव का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। चैतन्य मत के दो रूप हैं—गोस्वामी और सहजिया। सहजिया मत के अनुसार शरीर में ही सम्पूर्ण ब्रह्मांड स्थित है और शरीर की सेवा ही परमार्थ की प्राप्ति है। इस मत में स्त्री-प्रेम ही ईश्वर-प्रेम है। विद्यापति के पदों में स्त्री-प्रेम का सरस और सांगोपांग वर्णन है। इसीलिए सहजिया इन्हें 'सातवां रसिक भक्त' मानते हैं और इसीलिए चैतन्य महाप्रभु इनके पदों को गाते-गाते भावावेश में संज्ञाहीन हो जाते थे। आज भी बंगाल में कृष्ण-कीर्तन के अवसरों पर विद्यापति के पदों का गायन होता है।

पंचदेवोपासक—इस वर्ग के प्रतिनिधि महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री हैं। "कीर्तिलता" की भूमिका में शास्त्रीजी ने इस मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि "विद्यापति स्मार्त थे और स्मृति के अनुसार सूर्य, गणपति, अग्नि (विष्णु), दुर्गा और शिव इन पांचों देवताओं की उपासना आवश्यक है। विद्यापति ने इन समस्त देवताओं की अपनी रचनाओं में यथा अवसर स्तुतियां की हैं। इससे स्पष्ट है कि ये पंचदेवोपासक थे।"

एकेश्वरवादी—प्रो० जनार्दन मिश्र इस वर्ग के आधार-स्तम्भ हैं। उनका कहना

१—हिन्दी साहित्य
२—हिन्दी साहित्य का आदिकाल

है कि पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की प्रधानता है। किसी-किसी उपपुराण में दुर्गा को भी प्रधानता दी गई है···ब्रह्म की इच्छा से, माया और गुणों के संयोग से ही किसी आकृति का आरम्भ होता है। सत्व, रज और तम में एक-एक गुण को प्रधान मानकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश और दुर्गा के रूप में ब्रह्म की कल्पना की गई है···शंकर के स्वरूप में कल्पना करते समय आदि ब्रह्म को देवाधिदेव, महादेव इत्यादि कहा गया है। इनकी मूर्ति का अनुमान करना कठिन है, तो भी कहा जा सकता है कि ये व्योम-केश हैं। आकाश की नीलिमा ही इनके बाल हैं। दृश्य-जगत् का सबसे सुन्दर रत्न चन्द्रमा इनका शिरोभूषण है, इसीलिए ये चन्द्रशेखर हैं। इनकी शक्ति के सामने भयंकर कालरूपी सर्प की कोई गणना ही नहीं है। इसलिए वह कभी जटा में खेलता है, कभी कलाई पर झूलता है और कभी यज्ञोपवीत बन जाता है। अनंत विस्तार वाला दिक् भी इतना तुच्छ है कि वह अच्छी तरह इनकी कमर भी नहीं ढक सकता······इसलिए ये दिगम्बर हैं। सती पार्वती महाशक्ति है······"

इन सिद्धान्तों का मनन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साकार के अनेक रोचक स्वरूपों के रहते हुए भी सनातन हिन्दू-धर्म एकेश्वरवादी है, तथा निराकार और साकार को अभिन्न समझकर दोनों की समान श्रद्धा से उपासना करता है। वैदिक और पौराणिक साहित्य के अध्ययन करने से इस सिद्धान्त के विषय में कोई भ्रम नहीं रह जाता।

विद्यापति संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् थे। इनकी वृत्ति पठन-पाठन थी। शास्त्र-पुराणादि की चर्चा का प्रसंग सर्वथा उपस्थित रहता था। इसलिए आर्य-सिद्धान्तों के इन गूढ़ रहस्यों से ये पूर्णतः परिचित थे। यही कारण है कि हठ-धर्म ने इनके हृदय में स्थान नहीं पाया था। हिन्दू देवी-देवताओं के यथार्थ रूप से परिचित होने के कारण उनके किसी विशेष रूप की ओर इनका भेदभाव वा पक्षपात नहीं था। समान श्रद्धा से ये सबकी उपासना करते थे। शंकर और विष्णु के अभिन्न स्वरूप का इन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है—

"भल हरि भल हर भल तुअ कला।
खन पित बसन खनाई बघछला॥"······

इसी प्रकार मातृरूप में ब्रह्म का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

"विदिता देवी विदिता हो अविरल केस सोहन्ती।
एकानेक सहस को धारिनि अरिरंगा पुरनन्ती॥
कजल-रूप तुअ काली कहिअउ, उजल रूप तुअ बानी।
रवि-मंडल परचंडा कहिए, गङ्गा कहिए पानी॥
ब्रह्मा घर ब्रह्मानी कहिए, हर घर कहिए गौरी।
नारायण घर कमला कहिए, के जान उतपति तोरी॥"

इन अवतरणों से विद्यापति के धर्म-भाव का स्पष्टीकरण हो जाता है।······

इसलिए विशुद्ध वैदिक-धर्म का सच्चा स्वरूप यहाँ सर्वदा वर्तमान रहा······इसलिए प्राचीनकाल से ही धर्म का एक निश्चित स्वरूप अबाधगति से अपना कार्य कर रहा है। इसमें सम्प्रदाय या फिरका कभी पैदा नहीं हुआ।······यही कारण है कि मिथिला समाज में देव-देवियों के भेद से किसी प्रकार की कट्टरता का प्रचार नहीं हुआ, और इस समय भी उनकी यही मनोवृत्ति है।"

इन उद्धरणों से जनार्दन मिश्र ने यह सिद्ध किया है कि साकार के अनेक रूप होने पर भी सनातन-हिन्दू धर्म एकेश्वरवादी है तथा निराकार और साकार को अभिन्न समझकर दोनों की समान श्रद्धा से उपासना करता है।

शाक्त—पं० श्रीभागवत शुक्ल 'पार्षद' इस वर्ग के नेता हैं। इन्होंने जनवरी १९३६ ई० की 'माधुरी' में 'विद्यापति का निजी मत या सम्प्रदाय' शीर्षक से एक लेख लिखा था जिसमें विद्यापति को शाक्त सिद्ध किया गया है। इनके तर्क इस प्रकार हैं—

१. 'पुरुष-परीक्षा' के मंगलाचरण में विद्यापति ने आदि-शक्ति को शिव की पूज्या, विष्णु की ध्येया और ब्रह्मा की प्रणम्या बतलाया है। श्लोक यह है—

"ब्रह्मापि यां नौति नुतः सुराणां यामर्चितोऽप्यर्चयतीन्दुमौलिः।
या ध्यायति ध्यानगतोऽपि विष्णुस्तामादिशक्तिं शिरसा प्रपद्ये॥"

२. विद्यापति के पदों में 'हरि-विरंचि-महेश शेखर चुम्ब्यमानपदे' और 'जगतिपालन-जलमारणरूप-कार्य सहस्र कारण' शक्ति का विशेषण, 'हरिहर ब्रह्मा पुछइत भमे एकओ न जान तुअ' आदि शक्ति के वर्णन विद्यापति के शाक्त होने के साक्षी हैं।

३. मिथिला के विद्वान् इस समय भी शाक्त होते हैं और उस समय भी शाक्त होते थे। इसलिए विद्यापति का शाक्त होना स्वाभाविक है।

शैव—इस वर्ग में बाबू रामवृक्ष बेनीपुरी, पं० शिवनन्दन ठाकुर तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति विद्वान् प्रमुख हैं। अपने मत के प्रतिपादन में बाबू रामवृक्ष बेनीपुरी ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, वे ये हैं—

१ इनके पिता शैव थे। शिव की उपासना के बाद ही उन्होंने यह पुत्ररत्न प्राप्त किया था। ऐसी अवस्था में इनका शैव होना बहुत सम्भव है।

२ 'बिसपी' से उत्तर 'भैडवा' नामक एक गाँव में आज भी वाणेश्वर महादेव। कहते हैं कि ये इसी महादेव की उपासना करते थे।

३ इनके बनाए हुए अनेकानेक शिवगीत या नचारियाँ हैं जो मिथिला में इनकी पदावली से भी अधिक प्रसिद्ध हैं। मिथिला में इनकी पदावली तो विशेषतः स्त्रियों में प्रचलित है। अधिकतर स्त्रियाँ ही इनके पद गाती हैं। पुरुषों में तो नचारियाँ ही तीर्थ स्थानों को जाती हुई झुंड की झुंड कोकिलकंठी रमणियाँ जिस प्रकार इनके मधुर पद गाती-झूमती जाती हैं, उसी प्रकार तीर्थ-यात्री पुरुष के झुंड बड़े प्रेम से नचारियाँ गाते हैं।

४. कहते हैं, स्वयं महादेव इनकी भक्ति पर मुग्ध थे और उदना या उगना नाम से इनके भृत्य हो गये थे।[1]

पं० शिवनन्दन ठाकुर ने विद्यापति को शैव सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किए हैं—

१. उदना की किंवदन्ती प्रसिद्ध है। विद्यापति के द्वारा स्थापित वाणेश्वर शिव वर्तमान हैं।

२. विद्यापति के पूर्वज शैव थे। किंवदन्ती है कि इनके पिता गणपति ठाकुर ने 'कपिलेश्वर' नामक शिव की उपासना कर विद्यापति के सदृश पुत्र-रत्न को प्राप्त किया था।

३. विद्यापति के आश्रयदाता राजा शैव थे।

४. विद्यापति की चिता पर अभी तक शिव-मन्दिर विद्यमान है। वैष्णवों की चिता पर शिव की स्थापना, शिवलिंग की उत्पत्ति होना—आदि कहीं भी नहीं सुना जाता है।

५. विद्यापति ने 'पुरुष-परीक्षा' में धर्म का मार्मिक विवेचन किया है, किन्तु जब उपासना की बारी आई तब संसार से विरक्त रत्नांगद राजा से शिव की उपासना की प्रतिज्ञा करवाई है।

६. विद्यापति-रचित महेशबानी प्रसिद्ध है। शिव-मन्दिरों में शिवरात्रि आदि शिवपर्वों के अवसर पर ये पद गाए जाते हैं। इनमें शिव की प्रार्थना, पार्वती-विवाह, विवाह के समय मेनका की उदासीनता, शिव के लिए गौरी की उत्सुकता आदि का वर्णन है।

७. विद्यापति ने शिवपूजा के विषय में 'शैवसर्वस्वसार', शिवजटावलम्बिनी गंगा के विषय में 'गंगावाक्यावली' और शिव की अर्द्धाङ्गिनी दुर्गा की पूजा के विषय में 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' लिखी, किन्तु विष्णु की आराधना पर किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की।

८. विद्यापति ने जब अपनी उपासना का रूप स्थिर किया और शिवजी को अपना इष्टदेव बनाया तब शाक्त और विशिष्टाद्वैत मतों से प्रभावान्वित होने के कारण केवल शिवजी को अपना इष्टदेव नहीं रखकर युगलमूर्ति 'गौरीशंकर' को अपना इष्टदेव बनाया—

"लोढ़ब कुसुम तोड़ब बेलपात,
पूजब सदा शिव गौरि क सात।"

× × ×

१.—विद्यापति की पदावली : भूमिका, बेनीपुरी, पृ० १५-१६

"जय जय शंकर, जय त्रिपुरारि।
जय अध पुरुष, जयति अध नारि॥
आध धवल तनु, आधा गोरा।
आध सहज कुच, आध कटोरा॥"
× × ×
"भने कविरतन, विधाता जाने।
दुइ कएल बाँहुल एक पराने॥"[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपना मत इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"विद्यापति शैव थे। उन्होंने इन पदों की रचना शृंगार-काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। विद्यापति को कृष्ण-भक्तों की परम्परा में नहीं समझना चाहिए।"[2]

आलोचना—विद्यापति के धर्म-सम्प्रदाय के विषय में विभिन्न विद्वानों के मत और तर्क जान लेने पर यह प्रश्न अनायास ही उत्पन्न हो जाता है कि इनमें कौनसा मत ठीक है। अत इनकी पृथक्-पृथक् आलोचना करना आवश्यक प्रतीत होता है।

यदि विद्यापति को वैष्णव माना जाय तो यह प्रश्न अनायास ही उठ खडा होता है कि क्या विद्यापति के समय में वैष्णव-धारा इतनी प्रबल हो गई थी कि उससे विद्यापति जैसे महाकवि का प्रभावित होना अनिवार्य था? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यद्यपि विद्यापति के समय में वैष्णव-विचारधारा समस्त उत्तर भारत में फैल चुकी थी, किन्तु उसमें उस शक्ति का अभाव था जो १३वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निम्बार्क और विष्णुस्वामी द्वारा प्रदान की गई। फलत इन दोनों महानुभावों का विद्यापति पर प्रभाव मानना ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति अत्यन्त उदासीनता प्रकट करना है क्योंकि यदि वैष्णव-धारा का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति पर जयदेव का प्रभाव है, निम्बार्क और विष्णुस्वामी का नहीं। कारण यह है कि वैष्णवों के प्रथम आचार्य रामानुज की मृत्यु सन् ११३७ ई० में हुई थी और विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क १२वीं शताब्दी के प्रारम्भ में विद्यमान थे। जयदेव का जन्मकाल ११२० ई० के लगभग है। इससे यह स्पष्ट है कि जयदेव के काव्य-प्रेरक चाहे जो तत्व रहे हो, किन्तु वे वैष्णव आचार्य नहीं है। निम्बार्क और विष्णुस्वामी द्वारा प्रचलित और वल्लभाचार्य द्वारा विकसित राधा-कृष्ण की भक्ति बंगाल और बिहार में १५वीं शताब्दी में आई, तब तक पदावली का प्रणयन हो चुका था क्योंकि आचार्य शुक्ल सन् १४०३ ई० के लगभग विद्यापति का शिवसिंह के दरबार में होना मानते हैं।

शृंगार वैष्णव-भक्ति का एक प्रमुख अंग है और सम्भवत. इसी कारण महाप्रभु

१.—महाकवि विद्यापति, पृ० १७५—१८०
२.—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५७

चैतन्यदेव विद्यापति के पदों को गाते-गाते भावावेश में मूच्छित हो जाते थे, किन्तु विद्यापति की इस श्रृङ्गार-भावना का सम्बन्ध वैष्णव-सम्प्रदाय से न होकर शाक्त-सम्प्रदाय से सम्भव है क्योंकि वैष्णव-विचारधारा से तो विद्यापति अछूते ही थे जैसा कि उपर्युक्त पंक्तियों में अभी कहा गया है। उस समय शाक्तों के दो वर्ग थे—वैदिक और अवैदिक। वैदिक वर्ग वेद, स्मृति और पुराणों का अनुयायी था और अवैदिक वर्ग वेद-विरोधी था। विद्यापति पर इन दोनों वर्गों का प्रभाव परिलक्षित होता है। एक ओर जहां ये वैदिक वर्ग के अनुसार वेद, स्मृति और पुराणों के सजग पाठक थे, वहां दूसरी ओर अवैदिक शाक्तों के प्रभाव के फलस्वरूप इन्होंने वज्रयान की उस स्थूलता को भी अपनी भक्ति ? में स्थान दिया जो इनकी पदावली में राधा-कृष्ण के विलास और काम-क्रीड़ाओं के रूप में बिखरी पड़ी है। श्रीरामवाशिष्ट के शब्दों में—

"···श्रृंगार शाक्तों की भक्ति में प्रमुख था, इसीलिए विद्यापति के भी अपने काव्य में श्रृंगार की प्रधानता थी।"[१]

रही भागवत रचना करने की बात, केवल इसी एक रचना के आधार पर इनका सम्प्रदाय वैष्णव नहीं माना जा सकता क्योंकि यह रचना इनके मत की परिचायिका नहीं, अपितु इनकी समन्वयात्मकता की द्योतिका है। जिस प्रकार 'कृष्णगीतावली' के कारण तुलसी को कृष्ण भक्त नहीं माना जाता, उसी प्रकार इसी रचना के कारण इन पर भी वैष्णव-विचारधारा नहीं थोपी जा सकती।

विद्यापति को पंचदेवोपासक भी नहीं माना जा सकता। यह सत्य है कि इनकी रचनाओं में पंचदेवों की स्तुतियां मिलती हैं, किन्तु यह तो तत्कालीन धार्मिक परम्परा का ही प्रभाव है। विद्यापति पुराणों के विद्वान् थे और पुराणों का मत इन्हें मान्य भी था। पुराणों में बताया गया है कि पंचदेवों अर्थात् सूर्य, गणेश, दुर्गा, विष्णु (अग्नि) और शिव की पूजा करने के बाद ही इष्टदेव की पूजा करने का अधिकार प्राप्त होता है—

"गणेशञ्च दिनेशञ्च वह्नि विष्णुं शिवं शिवाम्।
सम्पूज्य देवषट्कञ्च सोऽधिकारी च पूज्यते॥"[२]

इसके अतिरिक्त उस समय मिथिला में पंचदेवों की पूजा का प्रचलन भी था जो आज भी है। पं० शिवनन्दन ठाकुर के शब्दों में—"मिथिला में इस समय भी प्रथा है कि किसी तरह की पूजा हो, शैव, वैष्णव या शाक्त कोई भी पूजक हों, पहले पंचदेवता की पूजा कर ली जाती है। संभव है विद्यापति के समय में भी यही प्रथा हो।"[३]

१—गीतिकार विद्यापति, पृ० १६४
२—ब्रह्मवैवर्तपुराण
३—महाकवि विद्यापति, पृष्ठ १७१

प्रो० जनार्दन मिश्र का यह कथन कि विद्यापति एकेश्वरवादी हैं, सत्य सिद्ध नहीं होता। पहली बात तो यह है कि विद्यापति की रचनाओं में अनेक देवी-देवताओं की स्तुतियां मिलती हैं जिससे यह सिद्ध करना कि विद्यापति की सचमुच आराध्या या आराध्य कौन हैं, नितांत दुष्कर कार्य है। दूसरे, विद्यापति का दृष्टिकोण समन्वयात्मक था। इनकी आस्था जितनी शिव के प्रति थी, उतनी ही विष्णु के प्रति थी। अतः यह मन्तव्य भी युक्तियुक्त सिद्ध नहीं होता।

अब केवल दो वर्ग शेष रह जाते हैं। एक है शाक्त मानने वाला और दूसरा शैव मानने वाला। मिथिला में शाक्त और शैव मतावलंबियों का प्राधान्य विद्यापति के युग में भी था और आज भी है। विद्यापति के पूर्वज और आश्रयदाता राजा शाक्त और शैव दोनों थे। इससे यह सिद्ध होता है कि ये दोनों धाराएं कभी अत्यन्त निकटवर्तिनी रही होंगी और कालांतर में इनमें व्यवधान पनपता गया। इस समस्या का समाधान करने के लिए विद्यापति की पूर्ववर्ती धार्मिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अवलोकन आवश्यक है।

विद्यापति के समय में वज्रयान और सहजयान शाखाओं का अस्तित्व था। इनमें सिद्धियों की प्रधानता थी। तांत्रिक परंपराओं में संवर्धित यक्ष-समाज सामाजिक बंधनों से मुक्त विलास का समाज था। स्त्रियां निर्बंध और पूज्या थीं, क्योंकि इन्हें सृजन का मूल कारण समझा जाता था। इस मातृसत्तात्मक समाज में योनि-पूजा का अत्यधिक महत्त्व था।

जब पुरुष को अपनी सत्ता के महत्त्व का आभास हुआ, सृजन में अपने योग का बोध हुआ तो योनि के साथ लिंग की पूजा भी प्रचलित हुई। इस प्रकार शक्ति और शिव का समन्वय हुआ। यह मत वाम-मार्ग की संज्ञा से अभिभूत हुआ। इससे जनता में उन्मुक्त विलास की भावना पनपी और नैतिकता नाम की कोई वस्तु ही नहीं रह गई जिसके विरोध स्वरूप हठयोगियों और नाथ-पंथियों ने संघर्ष छेड़ा।

शाक्त सम्प्रदाय ने प्रायः संपूर्ण भारत के सभी सम्प्रदायों को प्रभावित किया। शाक्तों के अनुसार दुर्गा आदिशक्ति मानी जाती है। शव को शिवत्व प्रदान करने वाली यही शक्ति है। शाक्तों का विश्वास है कि शिव मूलतः शव हैं। जब आदिशक्ति दुर्गा उनके साथ विपरीत रति करती है, तभी शव शिवत्व को प्राप्त करता है। दार्शनिक शब्दावली में—ब्रह्म स्वयं कुछ नहीं करता। जब वह माया अथवा शक्ति से संपन्न होता है तभी सृष्टि आविर्भूत होती है। दक्षिण के वैष्णव धर्म-प्रचार से पूर्व गाथा सप्तशती तथा अन्य लोकगीतों में राधा और कृष्ण की जो परम्परा उपलब्ध होती है और जो जयदेव से विद्यापति तक जाती है वह मूलतः शाक्त का ही प्रभाव है। साहित्य-जगत् में दुर्गा को राधा और शिव को कृष्ण का रूप दिया गया। यही शाक्त और शैवों की एकता का मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसी एकता को विद्यापति ने अपने पदों में अनेक स्थानों पर

प्रदर्शित किया है। समस्त देवताओं को शक्ति का आराधक और उपासक बताया है।

विद्यापति में यह समस्त परम्पराएं हमको मिलती हैं। शाक्तोपासना में नारी देवी का पर्याय है। नारी के समस्त रूप सामान्य हैं। विद्यापति में नारी के कामिनी और माता ये दो स्वरूप प्रधान मिलते हैं। क्रीड़ारता नारी शाक्तों की परम उपास्या है। विद्यापति ने उसका प्रभूत वर्णन किया है। स्थूल की यह समाराधना शाक्त मतानुसार शक्ति के वाह्य लालित्य का प्रतीक है। फिर भी यह कहना कि शाक्त मत का विद्यापति पर कितना प्रभाव पड़ा, आसान नहीं है क्योंकि "विद्यापति के समय में मिथिला में क्या, संपूर्ण उत्तर भारत में शैव, शाक्त और वैष्णव तीनों प्रकार के मतों का काफी प्रचार हो गया था।"[1]

निष्कर्ष—इतना विवेचन करने के उपरांत भी यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वस्तुतः विद्यापति का धर्म-सम्प्रदाय क्या था? हमारा मन्तव्य तो यह है कि विद्यापति जैसे समन्वयवादी कवि को किसी सम्प्रदाय विशेष की परिधि में सीमित करना अनुचित-सा ही प्रतीत होता है, क्योंकि इनकी समन्वय-भावना लोकनायक तुलसी की भावना से किसी प्रकार भी कम नहीं है। जिस प्रकार तुलसी के काव्य में तत्कालीन धार्मिक विचार-धाराओं का संगम है, उसी प्रकार विद्यापति ने भी अपने धार्मिक दृष्टिकोण में महती उदारता दिखाई है। श्री नरेन्द्रनाथ दास के शब्दों में—**"हमारी यह धारणा है कि विद्यापति युगल मूर्ति के एक उत्कृष्ट और स्मार्त उपासक थे, किसी सम्प्रदाय विशेष के नहीं थे।"**

यथार्थ भी यही है। विद्यापति जैसे समन्वयवादी कवि को किसी सम्प्रदाय-विशेष में घसीटना इनके प्रति सरासर अन्याय है। यदि इनके साथ किसी वाद को जोड़ने का दुराग्रह अदम्य ही है तो कहना पड़ेगा कि ये मानवतावादी कवि थे। इनका मानस मानवता की असीमता से संबद्ध था, किसी सम्प्रदाय की समीपता से इनका कोई लगाव न था। यहां श्री शिवप्रसादसिंह का यह वक्तव्य उल्लेखनीय है—

"विद्यापति का व्यक्तित्व नाना प्रकार की परस्पर विरोधी विचारधाराओं का स्तबक है। इस व्यक्तित्व में इस प्रकार का परस्पर विरोध संभवतः उस युग का परिणाम है जिसमें विभिन्न प्रकार की देशी-विदेशी विचारधाराएं संघर्ष-रत थीं। विद्यापति वस्तुतः संक्रमण काल के प्रतिनिधि कवि हैं, वे दरबारी होते हुए भी जन-कवि हैं, शृंगारिक होते हुए भी भक्त हैं, शैव, शाक्त या वैष्णव कुछ भी होते हुए भी वे धर्म-निरपेक्ष हैं, संस्कारी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने पर भी विवेक संत्रस्त या मर्यादावादी नहीं हैं। इस प्रकार विद्यापति का व्यक्तित्व अत्यन्त गुंफित और उलझा हुआ है—यह नाना प्रकार के फूलों की वनस्थली है, एक फूल का गमला नहीं।"[2]

१.—विद्यापति, पृष्ठ ७६

१.—विद्यापति, पृष्ठ ४

: ४ :

विद्यापति की बहुज्ञता

यह सत्य है कि काव्य में हृदयजन्य भावनाओं की प्रधानता होती है, किन्तु केवल भावनाओं पर काव्य का अमर और भव्य प्रासाद निर्मित नहीं किया जा सकता। अमर काव्य के लिए जहाँ भावुक हृदय की अपेक्षा होती है, वहाँ विकसित मस्तिष्क भी अनिवार्य है। कहना अनुपयुक्त न होगा कि भावुक हृदय और विकसित मस्तिष्क काव्य के दो आवश्यक स्तम्भ हैं जिनपर प्रतिष्ठित होकर काव्य देश-काल को चुनौती देकर सार्वभौमिकता और अमरत्व प्राप्त करता है। इसीलिए महाकवि के लिए हृदय की सरसता के साथ-साथ मस्तिष्क की परिपुष्टता भी अत्यन्त आवश्यक बताई गई है, अर्थात् कवि को जीवन और जगत् के सूक्ष्मतम और गंभीरतम परिज्ञान के साथ-साथ काव्येतर साहित्य का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, उसमें कला-निपुणता के साथ ही लोक-वैचक्षण्य भी हो, तभी वह अमर कवि बनकर अनश्वर काव्य की सृजना कर सकता है। मम्मटाचार्य के शब्दों में—

> "शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
> काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।"[1]

शास्त्रों में कुशल पर लोकाचार से अनभिज्ञ पंडित उपहासास्पद बनते देखे गये हैं।

विद्यापति बहुज्ञ थे। पूर्ववर्ती और समकालीन साहित्य का ज्ञान तो इनका अपार था ही, काव्येतर विषयों पर भी इनका पूर्ण अधिकार था। इतिहास, पुराण, भूगोल, स्मृति, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि के ये प्रकाण्ड पंडित थे। कई भाषाओं पर इनका असाधारण अधिकार था।

इतिहास—काव्यालोक में विचरण करने वाले मनीषियों की इतिहास के प्रति उदासीनता देखकर प्रायः यह धारणा-सी बन गई है कि काव्य और इतिहास का परस्पर कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, अथवा काव्य मनीषी इतिहास से अनभिज्ञ ही होते हैं। आधुनिक परिस्थितियों में इस धारणा को केवल धारणा कहकर झुठलाया नहीं जा सकता। इसमें बहुत-कुछ सत्य का अंश है, किन्तु विद्यापति के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इनकी कृतियाँ—कीर्तिलता, कीर्तिपताका और पुरुष-परीक्षा आदि इनके

[1]—काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास

ऐतिहासिक ज्ञान की साक्षी हैं। महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री का तो यहां तक विश्वास है कि प्रत्येक इतिहासवेत्ता को विद्यापति की 'पुरुष-परीक्षा अवश्य' पढ़नी चाहिए।

विद्यापति की 'कीर्तिलता' में ऐतिहासिक सामग्री तो मिलती ही है, तत्कालीन समाज का यथार्थ रूप भी प्राप्त होता है। पं० शिवनन्दन ठाकुर ने अपनी पुस्तक 'महाकवि विद्यापति' में विद्यापति की रचनाओं से खोजकर अनेक ऐसी घटनाओं की सूची दी है जिनसे इतिहास-वेत्ताओं को अमूल्य सहायता मिल सकती है।

पुराण—विद्यापति संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् थे। इनकी वृत्ति पठन-पाठन थी। शास्त्र-पुराणादि की चर्चा का प्रसग सर्वदा उपस्थित रहता था। 'शैवसर्वस्वसार' और 'शैवसर्वस्वसार-प्रमाणभूतसंग्रह' स्मृति-ग्रन्थों को पढ़कर विद्यापति के पुराणों-संबंधी गहन अध्ययन का पता लग जाता है।

भूगोल—'भूपरिक्रमा' नामक रचना विद्यापति के भौगोलिक ज्ञान की कसौटी है। इस रचना में शापग्रस्त बलराम की तीर्थ-यात्रा के व्याज से कवि ने भारत के विभिन्न तीर्थों के वर्णन का अवकाश पा लिया है। कोशल, काशी, प्रयाग आदि के सजीव और यथार्थ वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है जैसे विद्यापति काव्य और भूगोल का समन्वय प्रदर्शित करके व्यावहारिक शिक्षा के लिए भूगोल विद्या की उपयुक्तता सिद्ध कर रहे हों।

स्मृति—स्मृति-ज्ञान विद्यापति के वंश की परंपरा थी। इनके पूर्वज भी स्मृतियों के दिग्गज थे और स्मृतियों के आधार पर महान् ग्रन्थों का प्रणयन कर चुके थे। अपने पूर्वजों की भांति विद्यापति का भी स्मृतियों पर असाधारण अधिकार था। इन्होंने छः स्मृति-ग्रन्थों की रचना की है जिनके नाम हैं—शैवसर्वस्वसार, गंगावाक्यावली, दानवाक्यावली, दुर्गाभक्तितरंगिणी, गयापत्तलक और वर्षकृत्य। पदावली में भी यथावकाश स्मृति-ज्ञान की अभिव्यक्ति है जो अत्यन्त सरस और कवित्वपूर्ण। यथा—

"अपन अपन पहु सबहुँ जेमाओलि
मूखल तुअ जजमान।
त्रिवलि-तरंग सितासित संगम
उरज सम्भु निरमान।
आरति पति मँगइछ परतिग्रह
कह धनि सरबस-दान।"

इनके अतिरिक्त 'विभागसार' नामक एक अन्य ग्रंथ भी अनुमित किया जाता है जिसमें 'दाय-भाग' का वर्णन है।

धर्मशास्त्र—विद्यापति को शृंगारिक कवि माना जाता है, लेकिन इन्होंने केवल रूप-यौवन और तज्जन्य भाव-भंगिमाओं तक ही अपने कवि को सीमित नहीं रखा,

बल्कि समाज-सुधार और धर्म-सुधार तक के विषयों को अपनाया। इन्हें धर्म-शास्त्र का पूर्ण ज्ञान था और ये अपने समय की प्रचलित सभी धर्म-धाराओं से पूर्णरूपेण अवगत थे। गोस्वामी तुलसीदास के विषय में आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"निर्गुणधारा के संतों की बानी में लोक-धर्म की अवहेलना छिपी हुई थी। कबीर, दादू आदि के लोक-धर्म-विरोधी स्वरूप को यदि किसी ने पहचाना तो गोस्वामी जी ने।"[1] ठीक ये ही शब्द विद्यापति के विषय में भी कहे जा सकते हैं। इन्होंने भी अपने युग की धार्मिक कमजोरियों को पहचाना और अपने ग्रन्थों द्वारा तथा अपने अनुपम समन्वय द्वारा वही स्तुत्य कार्य किया जो गोस्वामी जी ने अपने समय में किया। अतः कहा जा सकता है कि विद्यापति केवल धर्म-शास्त्रों के ज्ञाता ही नहीं थे, अपितु धार्मिक महत्त्वों को प्रयोग में लाने वाले भी थे। ये व्यावहारिक धर्म-नेता थे। यही कारण है, विद्यापति की रचनाओं में लोकोक्तियों की भरमार मिलती है।

नीतिशास्त्र—'पुरुष-परीक्षा' की रचना का उद्देश्य बताते हुए विद्यापति ने कहा है—

"शिशूनां सिद्ध्यर्थन्नयपरिचितेर्नूतनधियां,
मुदे पौरस्त्रीणां मनसिजकथाकौतुकजुषाम्।"[2]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रंथ को लिखने के दो उद्देश्य कवि के समक्ष थे—एक तो नीतिशास्त्र से अनभिज्ञ मनुष्यों को नीतिशास्त्र की शिक्षा देना और दूसरे काम-कला में चतुर नागरिक नारियों को आनन्द देना। जीवन में ये दो पहलू अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण हैं। समाज में भिन्न-भिन्न प्रकृति और रुचि के मनुष्य होते हैं। जो व्यक्ति इन विभिन्नताओं को पहचान कर यथायोग्य आचरण करता है, वह अपने प्रत्येक ध्येय में आशातीत सफलता प्राप्त करता है। इसीलिए किसी भी व्यक्ति के लिए, जो सफलता का इच्छुक है, मानव-वृत्तियों को जानना अत्यन्त आवश्यक है। 'पुरुष-परीक्षा' में विद्यापति ने इन्हीं वृत्तियों का स्पष्टीकरण किया है।

काम-कला जीवन का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू है। सफलता के लिए 'पुरुष-परीक्षा' जितनी अनिवार्य है, काम-विद्या का पारगत होना भी उतना ही आवश्यक है। दोनों के समन्वय में ही जीवन की पूर्णता है।

कूटनीति-शास्त्र—राजवंशों से निकटतम संबंध होने के कारण विद्यापति का कूटनीतिज्ञ होना स्वाभाविक ही है, लेकिन इन्होंने इस विद्या को अपने जीवन में कभी महत्त्व नहीं दिया। धर्म के नाम पर मर-मिटने वाले हिन्दुओं में सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण और धर्म-सुधारक होकर विद्यापति कूटनीति को अपनाते भी कैसे ? फिर भी इनमें कूट-नीतिज्ञों के प्रति गहन आस्था थी। ये कूटनीतिज्ञों का सम्मान करते थे, किन्तु उनकी

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १३८
२—पुरुष-परीक्षा

प्रशंसा करते समय 'कूटनीति' के स्थान पर 'विद्या' और 'बुद्धि' शब्दों का प्रयोग करते थे। इस बात से विद्यापति के हृदय की विशालता प्रकट होती है।

भाषाएं—विद्यापति कई भाषाओं के पारंगत विद्वान् थे। संस्कृत, अपभ्रंश और मैथिली पर इनका समान अधिकार था। संस्कृत में लिखित इनके ११ ग्रंथ हैं जिनके नाम हैं—भूपरिक्रमा, पुरुष-परीक्षा, लिखनावली, विभागसार, वर्षकृत्य, शैवसर्वस्वसार, गंगा-वाक्यावली, दानवाक्यावली, दुर्गाभक्तितरंगिणी, गयापत्तलक और मणिमंजरी। पं० शिवनंदन ठाकुर के शब्दों में—"विद्यापति के ताम्रपत्र में बड़े ही सुन्दर श्लोक हैं और विद्यापति की पुरुष परीक्षा में अनेक ऐसे श्लोक हैं जिनके सुनने पर आनन्द के मारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। विद्यापति के संस्कृत-कवि होने में मेरे पास काफी प्रमाण हैं।"[1] महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री और भाषा-विज्ञान-वेत्ता नलिनीमोहन संन्याल का मत है कि संस्कृत के विमुग्धकारी गीतों में से यदि विद्यापति एक भी गीत न लिखते तो भी संस्कृत भाषा में रचित ग्रंथों के कारण ही ये अति उज्ज्वल मनीषी गिने जाते।

विद्यापति ने अपनी दो रचनाओं—कीर्तिलता और कीर्तिपताका का प्रणयन अपभ्रंश भाषा में किया है। जिस भांति राजशेखर, सातवाहन, गोवर्धनाचार्य आदि महाकवियों का विश्वास था कि संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत में अधिक माधुर्य और सरसता है, उसी भांति विद्यापति को अपभ्रंश पर विश्वास था। इन्होंने कहा भी है—

"सक्कय वाणी बुहअन भावइ, पाउंअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सबजन मिट्ठा, तें तैसन जम्पों अवहट्ठा॥"[2]

अर्थात् संस्कृत भाषा केवल विद्वानों को ही अच्छी लगती है, और प्राकृत भाषा इस का मर्म नहीं पाती। देशी भाषा सबको मीठी लगती है, इसी से मैं अवहट्ठ (अपभ्रंश) में रचना करता हूं।

मैथिली विद्यापति की मातृभाषा थी। प्रारम्भ काल में इसी भाषा ने सबसे समृद्ध देश-भाषा बंग-भाषा को समुन्नत किया था, इसीलिए विद्यापति की कोमलकांत और सरस पदावलियों को देखकर बंगाली उनपर मुग्ध हो गये और विद्यापति को बंगाली कवि सिद्ध करने का दुराग्रह ही अपना लिया। बहुत दिनों तक बंगालियों का यह दुराग्रह विवाद का विषय बन गया, किंतु आज यह निर्विवाद है कि विद्यापति की भाषा

१. महाकवि विद्यापति, पृष्ठ ८६
२. कीर्तिलता, प्रथम पल्लव

बंगला नहीं, हिन्दी है। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में—"विद्यापति को लेकर हिन्दी और बंगला वालों में काफी झगड़ा हुआ है। दोनों ही उन्हें अपनी ओर खींचने में प्रयत्नशील रहे हैं। किन्तु यह वाद-विवाद अब समाप्त हो चुका है। वास्तव में विद्यापति के पदों की भाषा हिन्दी के ही अधिक निकट है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यापति में बहुमुखी प्रतिभा थी। इनकी जानकारी अपार और गंभीर थी।

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १५८

: ५ :

विद्यापति पर पूर्ववर्ती प्रभाव

समसामयिक युग से तो यत्किंचित् सभी कवि प्रभावित होते हैं, किन्तु बहुज्ञ और प्रतिभा-सम्पन्न कवियों पर पूर्ववर्ती युग का भी पर्याप्त प्रभाव होता है। उस प्रभाव को ग्रहण करके उसपर अपने मौलिक चिन्तन और प्रतिभा की छाप लगा देना महा-कवियों की विशेषता होती है। उस छाप से अंकित होकर वह प्रभाव मौलिकता के सांचे में ढलकर और भी प्रभावपूर्ण हो जाता है।

विद्यापति पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव पर्याप्त रूप से प्राप्त होता है। ये विशेष रूप से माघ, कालिदास, अमरुक, गोवर्धनाचार्य, जगन्नाथ और जयदेव से प्रभा-वित हैं। इनसे प्रभाव-ग्रहण करके भी विद्यापति ने अपनी काव्य-प्रतिभा से वर्णन में जो नवीनता जोड़ दी है, उससे ये कहीं-कहीं इनसे भी बहुत आगे निकल गये हैं। इन कवियों के साथ विद्यापति का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

माघ—संस्कृत-साहित्य में माघ की गणना सर्वश्रेष्ठ कवियों में की जाती है। इनके विषय में यह उक्ति बहुत ही प्रचलित है—

"उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः॥"

अर्थात् माघ के काव्य में उपमा, अर्थ-गौरव और पदलालित्य तीनों ही गुण मिलते हैं। सद्यः स्नाता नायिका का वर्णन दोनों कवियों ने किया है, माघ ने भी और विद्यापति ने भी। माघ का वर्णन इस प्रकार है।

"वासांसि न्यवसत यानि योषितस्ताः
शुभ्रांशुद्युतिभिरहासि तैर्मुदेव।
अत्याक्षुः स्नपनगलज्जलानि यानि
स्थूलाश्रुस्रुतिभिररोदि तैः शुचेव॥"

अर्थात् स्त्रियों ने नवीन सफेद वस्त्र धारण किए। वे वस्त्र खुशी के मारे हंसने लगे (वस्त्रों की धवलता ही उनकी हंसी है) और जिन वस्त्रों का परित्याग किया, वे शोक से व्याकुल होकर आंसू बहाने लगे (वस्त्रों से जल गिरना ही उनका आंसू बहाना है)

विद्यापति का वर्णन भी देखिए—

बंगला नहीं, हिन्दी है। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के शब्दों में—"विद्यापति को लेकर हिन्दी और बंगला वालों में काफी झगड़ा हुआ है। दोनों ही उन्हें अपनी ओर खींचने में प्रयत्नशील रहे हैं। किन्तु यह वाद-विवाद अब समाप्त हो चुका है। वास्तव में विद्यापति के पदों की भाषा हिन्दी के ही अधिक निकट है।"[1]

इस प्रकार हम देखते है कि विद्यापति में बहुमुखी प्रतिभा थी। इनकी जानकारी अपार और गंभीर थी।

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १५८

: ५ :

विद्यापति पर पूर्ववर्ती प्रभाव

समसामयिक युग से तो यत्किंचित् सभी कवि प्रभावित होते हैं, किन्तु बहुज्ञ और प्रतिभा-सम्पन्न कवियों पर पूर्ववर्ती युग का भी पर्याप्त प्रभाव होता है। उस प्रभाव को ग्रहण करके उसपर अपने मौलिक चिन्तन और प्रतिभा की छाप लगा देना महाकवियों की विशेषता होती है। उस छाप से अंकित होकर वह प्रभाव मौलिकता के सांचे में ढलकर और भी प्रभावपूर्ण हो जाता है।

विद्यापति पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव पर्याप्त रूप से प्राप्त होता है। ये विशेष रूप से माघ, कालिदास, अमरुक, गोवर्धनाचार्य, जगन्नाथ और जयदेव से प्रभावित हैं। इनसे प्रभाव-ग्रहण करके भी विद्यापति ने अपनी काव्य-प्रतिभा से वर्णन में जो नवीनता जोड़ दी है, उससे ये कहीं-कहीं इनसे भी बहुत आगे निकल गये हैं। इन कवियों के साथ विद्यापति का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

माघ—संस्कृत-साहित्य में माघ की गणना सर्वश्रेष्ठ कवियों में की जाती है। इनके विषय में यह उक्ति बहुत ही प्रचलित है—

"उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दाण्डिन: पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणा:॥"

अर्थात् माघ के काव्य में उपमा, अर्थ-गौरव और पदलालित्य तीनों ही गुण मिलते हैं। सद्य: स्नाता नायिका का वर्णन दोनों कवियों ने किया है, माघ ने भी और विद्यापति ने भी। माघ का वर्णन इस प्रकार है।

"वासांसि न्यवसत यानि योषितस्ता:
शुभ्राभ्रंद्युतिभिरहासि तैर्मुदेव।
अत्याक्षु: स्नपनगलज्जानि यानि
स्थूलाश्रुस्रुतिभिररोदि तै: शुचेव॥"

अर्थात् स्त्रियों ने नवीन सफेद वस्त्र धारण किए। वे वस्त्र खुशी के मारे हंसने लगे (वस्त्रों की धवलता ही उनकी हंसी है) और जिन वस्त्रों का परित्याग किया, वे शोक से व्याकुल होकर आंसू बहाने लगे (वस्त्रों से जल गिरना ही उनका आंसू बहाना है)

विद्यापति का वर्णन भी देखिए—

"ओ नुकि करत चाहि किय देहा।
अबहि छोड़ब मोहि तेजब नेहा॥
ऐसन रस नहि पाओब आरा।
इथे लागि रोइ गए जलधारा॥"

नहाने से भीग जाने के कारण वस्त्र देही से चिपक जाते हैं और उनके छोरों से पानी निकलता रहता है। इन्ही दो बातो को लेकर विद्यापति ने यह उत्प्रेक्षा की है। वे कहते हैं कि वस्त्र अपने को छिपाना चाहता है (देही से चिपक जाना ही उसके छिपने का प्रयास है) क्यो? इसलिए कि उसे यह आशंका हो गई है कि नायिका अब उससे और प्रेम करने का छोड़ देगी। ऐसा रस उसे कही दूसरी जगह नही मिलेगा, यह सोचकर वस्त्र रो रहा है।

माघ और विद्यापति के इन वर्णनो मे एक ही घटना को एक ही उपमा से वर्णित किया गया है। माघ वस्त्रों के आसू दिखाकर ही मौन हो जाते हैं, किन्तु विद्यापति उसका कारण भी बताते हैं। कारण का वर्णन करने से व्यंग्यार्थ को किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुंची है, वरन् नायिका का रूप-सौन्दर्य और भी निखर गया है। वस्त्र जैसा निर्जीव पदार्थ भी जब उसके रूप-सौन्दर्य का लोभी है तो सजीव प्राणियो की तो बात ही दूसरी है। कहना न होगा कि इन वर्णनो मे विद्यापति का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक सरस और प्रभावपूर्ण है।

अमरुक—शृगार-कवियों मे अमरुक और इनकी कृति 'अमरुक-शतक' का महत्व-पूर्ण स्थान है। अमरुक ने शृगार रस के अन्तर्गत आने वाली छोटी-मोटी सभी घटनाओ का सफल वर्णन किया है। सखिया अपनी सखी को बार-बार मान करने की शिक्षा दिया करती हैं, बल्कि एक प्रकार से उसे बाध्य किया करती हैं। सखियो के बार-बार के आग्रह करने पर भी नायिका का मान स्थिर नही रह पाता। नायक के सम्मुख आते ही वह भग हो जाता है। अपनी इसी दशा का वर्णन नायिका अपनी सखियों से 'अमरुकशतक' मे इस प्रकार करती है—

"भ्रूभंगे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कंठमुद्वीक्षते
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते।
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनूरोमाञ्चमालम्बते
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने॥"[१]

अर्थात् भौंहे चढाने पर भी (नायक के सामने आने पर) मेरी आखे और भी अधिक उत्कंठा के साथ उसे देखने लगती हैं। बोलना बन्द करने पर यह मेरा अभागा मुख मुस्कराने लगता है। मन को कर्कश कर लेने पर भी शरीर मे रोगटे खडे हो जाते हैं, अतः उस (नायक) के सामने आने पर मेरा मान किस प्रकार निभ सकता है?

---

१. अमरुकशतक

इसी घटना का वर्णन विद्यापति की नायिका इस प्रकार करती है —

"दुरहि रहिअ करिअ मन आन
नअन पिआसल हँटल न मान।
हास सुधारस तसु मुख हेरि
बाँध लेआ बाँध निवी कत बेरि।
कि सखि करब धरब कि गोय
करबि मान जों आइति होय।
धसमस करय रहओं हिय जाँति
सगर सरीर धरब कत भाँति।
गोपहि न पारिअ हृदय उलास
मुनलओ वदन वेकत होअ हास।"

अर्थात् मैं दूर ही खड़ी हो गई और मन भी दूसरी ही ओर ले गई, किन्तु प्यासे नेत्र हठ के कारण नहीं माने। उसके मुख की सुधारससम हंसी को देखकर मेरा नीवी-बन्धन शिथिल हो गया और मैंने उसे न जाने कितनी बार कड़ा किया? हे सखी, मैं क्या करूं, और अपने मन के भाव को किस तरह छिपाऊं? यदि मुझे अपने ऊपर अधिकार होता तो मै मान अवश्य करती। छाती पर पत्थर रखने पर भी हृदय कांपने लगता है। मै नही जानती कि अपने समस्त शरीर को किस प्रकार स्थिर रक्खूं? हृदय का उल्लास छिपाये नहीं छिपता, आंखें मूंदने पर भी हंसी प्रकट हो जाती है।

इन दोनो वर्णनों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि अमरुक की अपेक्षा विद्यापति का वर्णन अधिक सजीव और विस्तृत है। विद्यापति नायिका की अवस्था के वर्णन से ही संतुष्ट नही होते, वल्कि कारण और अपनाये गये उपाय भी बता देते है। विद्यापति की नायिका मे अपेक्षाकृत अधिक भोलापन, विवशता और सरसता है, क्योंकि अमरुक की नायिका केवल भ्रूभंग ही करती है जबकि विद्यापति की नायिका दूर खड़ी होकर मन को भी दूर ले जाने का प्रयास करती है। अमरुक की नायिका बोलती ही नहीं है। उसका विश्वास है कि न बोलने पर प्रेम की गति थोड़ी देर के लिए रुक जाएगी। विद्यापति की नायिका और भी गहरे पानी पैठती है। वह सोचती है कि केवल चुप रहने से ही काम नहीं चलेगा, बल्कि उसे देखा ही न जाय, वरना नायक के दर्शनमात्र से ही उसका मन विचलित हो जायेगा और उसका निश्चय ही मान-भंग हो जायेगा। विद्यापति की नायिका का आंखें मूंद लेना नायिका के भोलेपन की सहज अभिव्यक्ति है।

एक अभिसारिका नायिका का उदाहरण देखिए। अमरुक का श्लोक है—

"क्व प्रस्थितासि करभोरु घने निशीथे,
प्राणाधिको वसति यत्र जनः प्रियो मे।

एकाकिनी अत्र कथं न बिभेषि बाले!
नन्वस्ति पुङ्खितशरो मदनः सहायः।"[1]

अभिसारिका अभिसार के लिए जा रही है। उस समय उसकी सखी उससे पूछती है—हे करभोरु! रात के निविड अधकार मे तुम कहा जा रही हो? वह उत्तर देती है—जहा प्राणो से भी अधिक प्यारा मेरा प्रेमी है। प्रश्न—तुम अकेली होकर भी डरती नही हो? उत्तर—धनुष पर बाण चढाए हुए कामदेव मेरे साथी हैं।

यही वर्णन विद्यापति का भी सुनिए—

"निसि निसिअरे भम भीम भुअगम
जलधर बीजुरि उजोर।
तरुन तिमिर निसि लइअो चलसि जासि
बड़ सखि साहस तोर।
सुन्दरि कओन पुरुख धन जे तोर हरल मन
जसु लोभे चल अभिसार।
आंतर दुतर नदि से कैसे जयबइ तरि
आरति न करिय झांप।
तोरा अछि पंचसर तें तोरा नहि डर
मोर हृदय बड कांप।"

सखी की अभिसारिका के प्रति उक्ति है—रात मे निशाचर और भयकर सर्प घूमते हैं। बादलो मे विद्युत् चमक रही है। रात मे निविड अधकार है, तो भी तुम जा रही हो। यह तुम्हारा बहुत बडा साहस है। वह सौभाग्यशाली पुरुष कौन है जिसने तुम्हारा मन हर लिया है और जिसके लिए तुम सकेत-स्थान पर जा रही हो? बीच मे दुस्तर नदिया हैं, उन्हे तुम कैसे पार करोगी? प्रेम मत छिपाओ। कामदेव तुम्हारा सहायक है, इसलिए तुम्हे तो कोई डर नही है, परन्तु मेरा तो हृदय बहुत जोरो से काप रहा है।

अमरुक के श्लोक और विद्यापति के पद मे सबसे सीधा अन्तर तो यह है कि अमरुक वातावरण का इतना भयावह और विस्तृत चित्रण नहीं कर सके, जितना विद्यापति ने किया है। फलत विद्यापति की नायिका अधिक साहसी और प्रेमपगी बन गई है। दूसरी बात यह है कि विद्यापति के पद की अन्तिम दो पक्तियो मे ध्वन्यार्थ है। सखी के यह कहने से कि तुम्हारा तो कामदेव सहायक है, लेकिन मुझे डर लग रहा है, यह ध्वन्यार्थ निकलता है कि सखी उसे अकेले नायक मिलन का अवसर दे रही है।

गोवर्धनाचार्य—गोवर्धनाचार्य शृगार-रस के सर्व-श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। गीत गोविन्दकार जयदेव ने इनके विषय मे कहा है—

१. अमरुकशतक

"शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्य गोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः ।"

अर्थात् शृंगार-रस की निर्दोष रचना में कोई भी आचार्य गोवर्धन की समता नहीं कर सकता । 'आर्यासप्तशती' में इनका एक श्लोक यह है—

"अगृहीतानुनयां मामुपेक्ष्य सख्यो गता वनैकाहम् ।
प्रसभं करोषि मयि चेत्त्वदुपरि वपुरद्य मोक्ष्यामि ॥"[1]

नायिका नायक से कहती है—मैंने मान का त्याग नहीं किया है, बल्कि सखियाँ मुझे अकेली छोड़कर चली गई हैं । यदि तुम बलात्कार करोगे तो मैं अभी मर जाऊंगी । श्लोक से व्यंग्यार्थ है—मैं तुम्हारे शरीर पर अपने शरीर को गिरा दूँगी ।

विद्यापति का यही वर्णन इस प्रकार है—

"ए हरि बलें जदि परसबि मोय ।
तिरि-बध-पातक लागल तोय ॥
तुहु रस-आगर नागर ढीठ ।
हम न बुझिअ रस तीत कि मीठ ।"

हे हरि ! यदि तुम मुझे बलात् छुओगे तो तुम्हें स्त्री-वध का पाप लगेगा । तुम रसागार, नागर और ढीठ हो और मैं नहीं जानती कि रस मीठा होता है या तीखा ।

इन दोनों वर्णनों की तुलना पं० शिवनन्दन ठाकुर के शब्दों में इस प्रकार है—

"आर्यासप्तशती की नायिका आत्महत्या की धमकी देकर बलात्कार करने से रोकती है, किन्तु विद्यापति की नायिका उसकी अनुमति के बिना छूने से भी रोकती है और कहती है कि यदि तुमने मेरा स्पर्श किया तो तुम्हें स्त्री-वध का पाप लगेगा । सीधे आत्महत्या की घुड़की की अपेक्षा स्त्री-वध का भय दिखलाने में कितनी अधिक सरसता है, यह सहृदय हृदय ही समझ सकता है । इस पर भी वह स्पष्ट शब्दों में कह देती है—"तुम रस के समुद्र हो, नागरिक हो और प्रौढ़ हो, इसलिए रस का परिचय देना और अपनी ढिठाई दिखलाना तुम्हारे लिए स्वाभाविक है । मैं तो जानती ही नहीं कि रस क्या है । इसलिए हत्यापराध लग जाने की धमकी देकर अरसिकता प्रकट करना मेरे लिए स्वाभाविक है । यदि मैं अरसिकता प्रकट करना नहीं छोड़ती हूं तो फिर तुम अपनी रसिकता क्यों छोड़ोगे ?" इस व्यंग्य अर्थ के द्वारा बलात्कार करने का इशारा करती है । श्लोक के द्वारा अस्वाभाविक अर्थ (मैं अपना शरीर तुम्हारे शरीर पर गिरा दूँगी) की कल्पना की अपेक्षा यह व्यंग्य अर्थ-रसिक कवियों को कहीं अधिक मीठा और ताजा रस पिलाकर उन्मत्त कर देता है । कोई भी मानिनी अचानक यह नहीं कह सकती है—"मैं तुम्हारे शरीर पर अपना शरीर गिरा दूँगी ।" यह सर्वथा अस्वाभाविक है । इसलिए मेरी समझ में यहां विद्यापति गोवर्धनाचार्य से कई एक कदम आगे बढ़ गये हैं ।"[2]

---

१. आर्यासप्तशती
२. महाकवि विद्यापति, पृष्ठ १२४—१२५

कालिदास—शृंगार-तिलक के रचयिता कालिदास सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। शृंगार-तिलक में एक श्लोक इस प्रकार है—

'यामिन्येषा बहुलजलदैर्बद्ध भीमान्धकारा
निद्रा याती मम पतिरसौ क्लेशितः कर्मदुःखैः।
बाला चाहं मनसिजभयात् प्राप्तगाढप्रकम्पा
ग्रामश्चोरैरयमुपहत पान्थ निन्द्रां जहीहि।''[1]

किसी नायिका के घर में एक पथिक सोया हुआ है। नायिका उससे कह रही है—हे पथिक निद्रा को छोड़ो क्योंकि यह रात है। बादलों के घिर जाने के कारण भयंकर अन्धकार है। भाग्यदोष से दुखी होकर मेरे पति सो गये हैं। मैं बाला हूं, कामदेव के भय से मेरा शरीर अत्यन्त काप रहा है और इस गांव में चोरों का उपद्रव भी है।

यही वर्णन विद्यापति के निम्नलिखित पद में भी है—

''हम जुवती पति गेलाह बिदेस
लग नहि बसय पड़ोसिया कलेस,
सासु दोसरि किछुग्रो नहि जान
आँखि रतौंधी सुनय न कान।
जागहु पथिक जाहु जनु भोर
राति अन्हार गाम बड़ चोर।
भरमहुँ भौरि न देग्र कोतवार
काहु क केग्रो नहि करम विचार।
अधिप न कर अपराधहुँ साति
पुरुख महत सय हमरे जाति।''

अर्थात् मैं युवती हूं, पति विदेश चले गये हैं, पास में पड़ोस लेशमात्र भी नहीं है। घर में केवल सास है जो कुछ नहीं समझती और जिसे रतौंधी भी आता है तथा बहरी भी है। हे पथिक जागो, सवेरे मत जाओ क्योंकि रात अंधेरी है और यह गांव बड़ा चोर है। कोतवाल भूलकर भी पहरा नहीं देता। यहां कोई किसी का ध्यान नहीं रखता। राजा अपराधियों को दण्ड नहीं देता। इस गांव के सब महान् पुरुष हमारी ही जाति के हैं।

शृंगार-तिलक में कवि ऐसा वातावरण नहीं बना पाया, जहां निर्भय होकर केलि-क्रीड़ा की जा सके, क्योंकि नायिका का पति पास ही सोया हुआ है जिसके जाग जाने की आशंका से रस की पूर्ण अनुभूति नहीं हो सकती। विद्यापति ने इस कमी को परखा है और अपने पद में इसे दूर कर दिया है। इन्होंने पति को विदेश भेज दिया, पड़ोसियों को पास नहीं फटकने दिया, अंधी, बहरी और मूर्ख बताकर सास का भय भी दूर कर

[1] शृंगार तिलक

दिया तथा कोतवाल के पहरे का डर भी नहीं रहने दिया। इस प्रकार विद्यापति ने ऐसे वातावरण की सृष्टि कर दी जिसमें रति-क्रिया का निःशंक होकर घंटों तक आनन्द लूटा जा सकता है। यही नहीं, बिरादरी का भय भी नहीं छोड़ा। इस प्रकार यदि शृंगार-तिलक का वर्णन रसाभास के योग्य है तो विद्यापति का वर्णन पूर्ण रसानुभूति के लिए उपयुक्त है।

एक बात और; शृंगार-तिलक की नायिका 'मनसिजभयात् प्राप्तगाढ़प्रकम्पा' कहकर लज्जा के आवरण का बिलकुल अनावरण कर देती है जो उसकी नग्न कामांधता और अरसिकता का ही परिचायक है। इसके विपरीत विद्यापति की नायिका 'हम जुवती पति गेलाह बिदेस' कहकर स्त्रियोचित भाषा में ही अपने भावों की अभिव्यक्ति करती है और साथ ही पति का विदेश-वास बताकर अपने जीवन की विवशता भी प्रकट कर देती है जो उसके परपुरुष-सहवास के दोष पर एक झीना सा पर्दा डाल देती है। अतः यहां विद्यापति का निरीक्षण अधिक व्यापक और सफल है।

जयदेव—उपर्युक्त कवियों की अपेक्षा विद्यापति जयदेव से ही अधिक प्रभावित हैं। जयदेव के अधिकांश गुण विद्यापति के काव्य में मिलने के कारण ही ये 'अभिनव जयदेव' की उपाधि से विभूषित किए गये, लेकिन कहीं-कहीं विद्यापति जयदेव को भी पीछे छोड़ गये हैं। जयदेव के विरही नायक की कामदेव के प्रति यह उक्ति है—

"हृदि बिसलताहारो नायं भुजंगमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः।
मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्याऽनंग क्रुधा किमु धावसि ?"[1]

हे कामदेव ! यह सर्पराज नहीं है, अपितु विरह-वेदना से व्याकुल हृदय को शीतल करने के लिए कमल-नाल है। यह विष नहीं है, गले में नीले कमल का हार है। यह भस्म नहीं है, चन्दन की रज है। इसलिए भूल से मुझे शिवजी समझकर मुझपर बाण न चलाओ और क्रोधाभिभूत होकर मेरी ओर मत दौड़ो।

यही वर्णन विद्यापति के शब्दों में देखिए—

"कत न वेदन मोहि देसि मदना
हर नहि बला मोहि जुवति-जना।
विभुत-भूषन नहिं चानन क रेनू
बघछाल नहिं नेतक बसनू।
नहिं मोरा जटाभार चिकुर क बेनी
सुरसरि नहि मोरा कुसुम क सेनी।

नहि मोरा कालकूट मृगमद चारु
फनपति नहि मोरा मुकुता-हारु।
भनइ विद्यापति सुन देव कामा
एक पय दूखन नाम मोर वामा।"

हे मदन ! तू मुझे दुख मत दे क्योंकि मैं हर नहीं, युवती हूँ। यह भस्म नहीं, चदन की रज है; यह बाघ-छाला नहीं, मेरी चुनरी है; यह जटा नहीं, मेरे बालों की गुथी हुई वेणी है, यह गंगा नहीं, मेरे कुसुमों की पंक्ति है, यह विष नहीं, सुवासित कस्तूरी है, यह सर्पराज नहीं, मेरा मोतियों का हार है। विद्यापति कहते हैं कि युवती ने कामदेव से कहा कि हे काम सुनो ! मेरा अपराध केवल इतना है कि मेरा नाम वामा है (शिवका नाम वामदेव है), इसी समानता पर पहिचानने में भूल करके तुम मुझे दुख देते हो।

यहां विद्यापति के शब्दों का प्रयोग अधिक सार्थक और चमत्कारिक है। कामदेव के लिए जयदेव ने 'अनंग' शब्द का प्रयोग किया है और विद्यापति ने 'मदन' का। 'अनग' में शिव के प्रति कामदेव की शत्रुता निहित है। 'मदन' का अर्थ है—प्रसन्न करने वाला, लेकिन दे रहा है वह दुख। विद्यापति के इस प्रयोग में यही सार्थकता है। जयदेव ने विरही नायक को खड़ा किया है और विद्यापति ने काम-बाण से व्याकुल युवती के द्वारा नाम सादृश्य के कारण प्रहार करने वाले काम की अविवेकिता प्रकट कर अपनी रसिकता का परिचय दिया है।

यहां तक तो हुई उन भावों की बात जिन्हें विद्यापति ने दूसरों से ग्रहण करके अपनी प्रतिभा तथा कवित्व शक्ति की निकष पर कसकर और अधिक हृदयग्राही एवं चमत्कारिक बना दिया है, लेकिन कहीं कहीं विद्यापति ने दूसरे कवियों के भावों को ज्यों का त्यों अपना लिया है और केवल अपने शब्दों में उन्हें दोहरा दिया है। 'गीतगोविंद' के कुछ उदाहरण देखिए—

१—"रजनि-जनित-गुरु-जागर-राग—
कषायितमलसनिवेशनम्।"— जयदेव
"लोचन अरुन बुझल बड़ भेद
रअनि उजागर गरुअ निवेद"—विद्यापति

२— "हरि हरि याहि माधव याहि माधव मा वद कैतववादम्
तामनुसर सरसीरुहलोचन या तव हरति विषादम्।"
—जयदेव।

"ततहि जाह हरि करह न लाथ
रअनि गमओलह जनिके साथ।"—विद्यापति।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विद्यापति अपने पूर्ववर्ती कवियों से अत्यंत

प्रभावित हैं। इन्होंने उनकी भाव-धाराओं को अवश्य ग्रहण किया है, किंतु अपनी प्रतिभा और मौलिकता के तटों में बांधकर उन्हें एक नवीन प्रवाह दे दिया है जिसमें सरसता की उत्ताल ऊर्मियाँ, भावों का गांभीर्य, और चमत्कार की तरंगें हैं। दूसरों के भावों की आधार-शिलाओं पर अपने काव्य के भव्य प्रसादों का निर्माण करना महान् और निष्णात कवियों से ही संभाव्य है। विद्यापति की महानता का रहस्य इसी 'संभाव्य' में निहित है।

०

: ६ :

विद्यापति भक्त या शृङ्गारी

महाकवि विद्यापति का मूल्यांकन तब हुआ, जब हिन्दी-साहित्य दो महत्त्वपूर्ण करवटें ले चुका था। वह भक्तिकाल के अलौकिक वातावरण में राधा-कृष्ण के प्रतीकों द्वारा आत्मा-परमात्मा के सम्मिलन को भी देख चुका था और रीतिकाल की लौकिक भूमि पर स्पष्ट नायिका-नायक की काम-क्रीडाएं भी करा चुका था। इन्हीं दो करवटों के प्रकाश में जब विद्यापति को देखा गया तो कुछ आलोचकों को तो ये भक्त कवि नजर आए और कुछ को शृंगारी। फलत. हिंदी साहित्य में यह विवाद प्रबल रूप से चल निकला कि विद्यापति भक्त कवि है अथवा शृंगारी।

भक्त कवि—इस विवाद का श्रीगणेश डा० ग्रियर्सन की 'मैथिली क्रेस्टोमैथी की भूमिका' से हुआ। विद्यापति के पदों की प्रतीकात्मकता का विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा—

"राधा और कृष्ण वस्तुत प्रतीक हैं। राधा जीवात्मा का प्रतीक है और कृष्ण परमात्मा का। जीवात्मा परमात्मा से मिलने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। यह प्रयत्न तब तक अप्रतिहत रूप से चलता रहता है, जब तक जीवात्मा परमात्मा में लय होकर सायुज्य लाभ नहीं कर लेता। जीवात्मा अपने सांसारिक प्रपंचों और माया के पाशों में इस प्रकार आबद्ध है कि वह अपनी आंतरिक प्रेरणा से परमात्मा की प्राप्ति करने के लिए प्रयास नहीं करता। इसलिए उसे ईश्वरोन्मुख करने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। विद्यापति के काव्य में दूती इसी गुरु का प्रतीक है। यह दूती जीवात्मा या प्रेमिका को निरन्तर परमात्मा से मिलने के लिए प्रेरित करती करती है। इतना ही नहीं, इस अभिसार या प्रेम-मिलन के प्रत्येक कार्य में वह उसकी सहायता भी करती है।"[1]

डा० ग्रियर्सन के मत से विद्यापति के पदों की महत्ता इसी प्रतीकात्मकता के कारण है।[2]

---

१. मैथिली क्रेस्टोमैथी, पृष्ठ ३६

२ But his (Vidyapati's) chief glory consists in his matchless sound (Padas) in the maithili dialect dealing allegorically with the relation of soul to God under the form of love which Radha bore to Krishna —*Modern Vernacular Literature of Hindusthan Page 9—10*

ग्रियर्सन महोदय की इस भूमिका के अनन्तर अन्य मनीषियों ने भी इस दिशा में प्रयास करने प्रारम्भ किए, और विद्यापति के पदों में रहस्यवाद का अन्वेषण ही नहीं हुआ, बल्कि इन्हें पूर्ण रहस्यवादी कवि सिद्ध किया गया। एफ० ई० किअय (F. F. Keay) ने भी डा० ग्रियर्सन के सिद्धान्त का अक्षरशः अनुमोदन किया।[१]

सन् १९३५ में सिनेट हाल पटना में व्याख्यान देते हुए श्री नगेन्द्रनाथ गुप्ता ने कहा था—विद्यापति की राधा-कृष्ण पदावली का सारांश यही है कि जीवात्मा परमात्मा को खोज रहे हैं और एकांत स्थान में परमात्मा से मिलने के लिए चिन्तित हैं। संसार ईश्वर प्रेम से परिचित नहीं है, इसलिए वह भक्त के मार्ग में अड़चन डालता है। यह देख ईश्वरान्वेषी भक्त संसार छोड़ शांतिमय वन में जाकर एकांत स्थान में निवास करता है। इसी विषय का वर्णन विद्यापति ने दूसरे शब्दों में किया है। मूसलाधार वृष्टि हो रही है और भयानक शब्द करता हुआ वज्र गिर रहा है, किन्तु नायिका को जरा भी भय नहीं। वह सांपों को पैरों से कुचलती हुई अपने प्रेमी श्रीकृष्ण के घर पहुंच जाती है—

"रयनि काजर बम, भीम भुजङ्गम
कुलिस पड़ए दुरबार।
गरज तरस मन, ऐसे बरिस घन
संसय पड़ अभिसार।
चरन बेधल फनि, हित कय मानल धनि
नेपुर न करए रोल।
सुमुखि पुछौ तोहि, सरूप कहसि मोहि,
सिनेह कतए दुर ओल।"

अर्थात् रजनी अंधकारावृत है, दुर्निवार वज्र गिर रहा है। क्रुद्ध बादल का गर्जन करके बरसना मन में भय उत्पन्न कर रहा है जिससे राधा को संकेत-स्थल तक पहुंचने में संदेह हो गया है पैरों से सांपों का लिपटना अभिसारिका शुभ ही समझती है क्योंकि उनसे नूपुरों की ध्वनि मौन हो गई है। दूती पूछती है—हे सुमुखि ! सत्य कहो कि तुम्हारा स्नेह किस सीमा तक पहुँच गया है'[२]

१. Vidyapati Thakur who lived at Bispi in the Darbanga district of Bihar in the Middle of the fifteen century is of the most famous Vaishnava poets of Eastern India. His chief fame, however, rests on his sonnets in the Maithili dialect of Bihar. *In these he uses* the story of the love which Radha bore to Krishna as an allegony to describe the relation of the soul to God.

—*A History of Hindi Literature, P. 28*

२. पटना विश्वविद्यालय में सन् १९३५ में विद्यापति के सम्बन्ध में दिए गए एक भाषण से।

नगेन्द्रनाथ जी के अनुसार प्रेम की यह निर्बाधगति लौकिक नही, अलौकिक है। उन्होने ऐसे ही उदाहरण प्रस्तुत किए, जिनमे नायिका प्रत्येक बाधा को रौंदती हुई नायक के सामीप्यलाभ के लिए अग्रसर होती है। नगेन्द्रनाथ जी का मत है कि ये वर्णन लौकिक प्रेम के नही, साधारण नायिका का उत्साह नही, बल्कि आत्मा की परमात्मा मे मिलन की प्रयासमयी तीव्रतम उत्कंठा है।

डा० जनार्दन मिश्र का भी यही मत है—

"विद्यापति के समय मे रहस्यवाद का मत जोरों पर था। उसके प्रभाव से बचकर निकलना और किसी अधिक निष्कंटक मार्ग का अवलम्बन करना इन्हें शायद अभीष्ट न था, अथवा अभीष्ट होने पर भी तुलसीदास की तरह अपने वातावरण के विरुद्ध जाने की शक्ति इनमे न थी। इसीलिए स्त्री और पुरुष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा की उपासना की जो धारा उमड रही थी उसमे इन्होंने अपने को बहा दिया।"[१]

श्री कुमारस्वामी भी विद्यापति के पदो मे रहस्यभावना का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

"विद्यापति का काव्य गुलाबों का काव्य है, चारो ओर गुलाबों से परिवृत यह आनन्द-निकुंज है। यहा हमे स्वर्ग का दर्शन होता है। वृन्दावन की कृष्णलीला शाश्वत है। वृन्दावन मनुष्य का हृदय-प्रदेश है। यमुना का किनारा इस संसार का प्रतीक है जो राधा और कृष्ण अर्थात् जीव और ईश्वर की लीलाभूमि है। वंशी की ध्वनि अदृश्य सत्ता का स्वर है, जीव को परमात्मा की ओर अग्रसर होने का आह्वान है।"[२]

बाबू ब्रजनंदन सहाय और डा० श्यामसुन्दरदास विद्यापति की पदावली को वैष्णव भक्ति के विचारों और भावनाओं का प्रतीक मानते है। डा० श्यामसुन्दरदास इन पर निम्बार्क और विष्णुस्वामी का प्रभाव मानते हुए लिखते हैं—

"विद्यापति पर माध्व संप्रदाय का ही ऋण नहीं है, उन्होंने विष्णु स्वामी तथा निम्बार्काचार्य के मतों का भी ग्रहण किया है। न तो भागवतपुराण मे और न माध्व-मत में ही राधा का उल्लेख किया गया है। कृष्ण के साथ विहार करने वाली अनेक गोपियों मे राधा भी हो सकती है, पर कृष्ण की चिर प्रेयसि के रूप में वे नहीं देख पड़ती। उन्हें यह रूप विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क सम्प्रदायों में ही पहले-पहल प्राप्त हुआ था। विष्णुस्वामी मध्वाचार्य की ही भांति द्वैतवादी थे। भक्तमाल के अनुसार वे प्रसिद्ध मराठा भक्त ज्ञानेश्वर के गुरु और शिक्षक थे। राधा और कृष्ण की सम्मिलित उपासना इनकी भक्ति का नियम था। विष्णुस्वामी के ही समकालीन निम्बार्क नामक तैलंग ब्राह्मण का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने वृन्दावन मे निवासकर गोपालकृष्ण की भक्ति

१. विद्यापति, पृष्ठ ७
२. Songs of Vidyapati

की थी। निम्बार्क ने विष्णुस्वामी से भी अधिक दृढ़ता के साथ राधा की प्रतिष्ठा की और उन्हें अपने प्रियतम कृष्ण के साथ गोलोक में निवास करने वाली कहा। राधा का यही चरम उत्कर्ष है। विद्यापति ने राधा और कृष्ण की प्रेमलीला का जो विशद वर्णन किया है, उस पर विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क मतों का प्रभाव प्रत्यक्ष है।''[१]

यहां तक उन प्रमुख विद्वानों के मतों का उल्लेख हुआ है जो विद्यापति को भक्त कवि मानते हैं। इस मान्यता के विरुद्ध विद्वानों का एक दूसरा वर्ग है जो विद्यापति को शृंगारी कवि सिद्ध करते हैं।

शृंगारी

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने 'कीर्त्तिलता' की प्रस्तावना में लिखा है—"यह बड़े आश्चर्य की बात है कि संस्कृत भाषा में लिखे हुए विद्यापति के स्मृतिग्रन्थों में शिव, गंगा और दुर्गा हैं, किन्तु कृष्ण का नाम कहीं भी नहीं है...मुझे तो इसका एक ही अर्थ मालूम पड़ता है कि विद्यापति जब आदि (शृंगार) रस का गाना लिखते थे तब राधा कृष्ण का नाम विशेष रूप से स्वय आ जाता था। यह स्वाभाविक है।" नगेन्द्रनाथदास का मत है कि विद्यापति ने कीर्तन के लिए अपने पदों की रचना की। इसका खंडन करते हुए शास्त्री जी कहते हैं—"...विद्यापति के करीब-करीब २०० वर्ष बाद कीर्तन की सृष्टि हुई। विद्यापति के पद कीर्तन के लिए नहीं बनाए गये थे।" शास्त्री जी के मन्तव्य का निष्कर्ष उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—"विद्यापति ने कीर्तन का गान नहीं लिखा है तो भी विद्यापति के पद कीर्तन में मिला लिए गये हैं। विद्यापति वैष्णव नहीं थे, किन्तु पंचदेवोपासक थे, विद्यापति सौन्दर्य के कवि थे, उन्होंने सौन्दर्य की सृष्टि की है। आदिरस सौन्दर्य की खान हैं। उस रस में विद्यापति ने अनेक गाने लिखे। आदिरस में राधा-कृष्ण का प्रेम-वर्णन बड़ा महत्त्वपूर्ण विषय है। इसलिए विद्यापति ने उसका यथेष्ट रूप से व्यवहार किया है। अनेक जगह राधा-कृष्ण का नाम यों ही दे दिया गया है, शृंगार रस ही उसका प्रधान लक्ष्य है।''[५]

श्री विनयकुमार सरकार विद्यापति को भक्त अथवा रहस्यवादी नहीं, बल्कि पूर्णरूपेण शृंगारी ही मानते हैं लिखते हैं—"ऐन्द्रिक भावना का मानवीय सम्बन्धों के बीच इतना सुन्दर सम्मिश्रण और इतने ऊंचे स्तर का चित्रण भारतीय साहित्य में विद्यापति के अतिरिक्त और किसी ने प्रस्तुत नहीं किया है।''[६]

१—हिन्दी-साहित्य
२, हिन्दी साहित्य का इतिहास
३. कीर्तिलता की प्रस्तावना
४. कीर्तिलता की प्रस्तावना
५. कीर्तिलता की प्रस्तावना
६. Love in Hindu Literature, Page 20-21

नगेन्द्रनाथ जी के अनुसार प्रेम की यह निर्बाधगति लौकिक नहीं, अलौकिक है। उन्होंने ऐसे ही उदाहरण प्रस्तुत किए, जिनमे नायिका प्रत्येक बाधा को रौंदती हुई नायक के सामीप्यलाभ के लिए अग्रसर होती है। नगेन्द्रनाथ जी का मत है कि ये वर्णन लौकिक प्रेम के नहीं, साधारण नायिका का उत्साह नहीं, बल्कि आत्मा की परमात्मा से मिलन की प्रयासमयी तीव्रतम उत्कंठा है।

डा० जनार्दन मिश्र का भी यही मत है—

"विद्यापति के समय मे रहस्यवाद का मत जोरों पर था। उसके प्रभाव से बचकर निकलना और किसी अधिक निष्कंटक मार्ग का अवलम्बन करना इन्हें शायद अभीष्ट न था, अथवा अभीष्ट होने पर भी तुलसीदास की तरह अपने वातावरण के विरुद्ध जाने की शक्ति इनमे न थी। इसीलिए स्त्री और पुरुष के रूप मे जीवात्मा और परमात्मा की उपासना की जो धारा उमड रही थी उसमे इन्होंने अपने को बहा दिया।"[१]

श्री कुमारस्वामी भी विद्यापति के पदो मे रहस्यभावना का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

"विद्यापति का काव्य गुलाबों का काव्य है, चारों ओर गुलाबों से परिवृत यह आनन्द-निकुंज है। यहा हमें स्वर्ग का दर्शन होता है। वृन्दावन की कृष्णलीला शाश्वत है। वृन्दावन मनुष्य का हृदय-प्रदेश है। यमुना का किनारा इस ससार का प्रतीक है जो राधा और कृष्ण अर्थात् जीव और ईश्वर की लीलाभूमि है। वंशी की ध्वनि अदृश्य सत्ता-का स्वर है, जीव को परमात्मा की ओर अग्रसर होने का आह्वान है।"[२]

बाबू ब्रजनदन सहाय और डा० श्यामसुन्दरदास विद्यापति की पदावली को वैष्णव भक्ति के विचारों और भावनाओ का प्रतीक मानते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास इन पर निम्बार्क और विष्णुस्वामी का प्रभाव मानते हुए लिखते हैं—

"विद्यापति पर माध्व संप्रदाय का ही ऋण नहीं है, उन्होंने विष्णु स्वामी तथा निम्बार्काचार्य के मतों का भी ग्रहण किया है। न तो भागवतपुराण मे और न माध्व-मत में ही राधा का उल्लेख किया गया है। कृष्ण के साथ विहार करने वाली अनेक गोपियों में राधा भी हो सकती है, पर कृष्ण की चिर प्रेयसि के रूप में वे नहीं देख पड़ती। उन्हें यह रूप विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क सम्प्रदायो मे ही पहले-पहल प्राप्त हुआ था। विष्णुस्वामी मध्वाचार्य की ही भांति द्वैतवादी थे। भक्तमाल के अनुसार वे प्रसिद्ध मराठा भक्त ज्ञानेश्वर के गुरु और शिक्षक थे। राधा और कृष्ण की सम्मिलित उपासना इनकी भक्ति का नियम था। विष्णुस्वामी के ही समकालीन निम्बार्क नामक तैलंग ब्राह्मण का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने वृन्दावन मे निवासकर गोपालकृष्ण की भक्ति

---

१. विद्यापति, पृष्ठ ७
२. Songs of Vidyapati

की थी। निम्बार्क ने विष्णुस्वामी से भी अधिक दृढ़ता के साथ राधा की प्रतिष्ठा की और उन्हें अपने प्रियतम कृष्ण के साथ गोलोक में निवास करने वाली कहा। राधा का यही चरम उत्कर्ष है। विद्यापति ने राधा और कृष्ण की प्रेमलीला का जो विशद वर्णन किया है, उस पर विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क मतों का प्रभाव प्रत्यक्ष है।"[१]

यहां तक उन प्रमुख विद्वानों के मतों का उल्लेख हुआ है जो विद्यापति को भक्त कवि मानते हैं। इस मान्यता के विरुद्ध विद्वानों का एक दूसरा वर्ग है जो विद्यापति को शृंगारी कवि सिद्ध करते हैं।

शृंगारी

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने 'कीर्तिलता' की प्रस्तावना में लिखा है—"यह बड़े आश्चर्य की बात है कि संस्कृत भाषा में लिखे हुए विद्यापति के स्मृतिग्रन्थों में शिव, गंगा और दुर्गा हैं, किन्तु कृष्ण का नाम कहीं भी नहीं है...मुझे तो इसका एक ही अर्थ मालूम पड़ता है कि विद्यापति जब आदि (शृंगार) रस का गाना लिखते थे तब राधा कृष्ण का नाम विशेष रूप से स्वयं आ जाता था। यह स्वाभाविक है।" नगेन्द्रनाथदास का मत है कि विद्यापति ने कीर्तन के लिए अपने पदों की रचना की। इसका खंडन करते हुए शास्त्री जी कहते हैं—"...विद्यापति के करीब-करीब २०० वर्ष बाद कीर्तन की सृष्टि हुई। विद्यापति के पद कीर्तन के लिए नहीं बनाए गये थे।" शास्त्री जी के मन्तव्य का निष्कर्ष उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—"विद्यापति ने कीर्तन का गान नहीं लिखा है तो भी विद्यापति के पद कीर्तन में मिला लिए गये हैं। विद्यापति वैष्णव नहीं थे, किन्तु पंचदेवोपासक थे, विद्यापति सौन्दर्य के कवि थे, उन्होंने सौन्दर्य की सृष्टि की है। आदिरस सौन्दर्य की खान है। उस रस में विद्यापति ने अनेक गाने लिखे। आदिरस में राधा-कृष्ण का प्रेम-वर्णन बड़ा महत्त्वपूर्ण विषय है। इसलिए विद्यापति ने उसका यथेष्ट रूप से व्यवहार किया है। अनेक जगह राधा-कृष्ण का नाम यों ही दे दिया गया है, शृंगार रस ही उसका प्रधान लक्ष्य है।"[५]

श्री विनयकुमार सरकार विद्यापति को भक्त अथवा रहस्यवादी नहीं, बल्कि पूर्णरूपेण शृंगारी ही मानते हैं लिखते हैं—"ऐन्द्रिक भावना का मानवीय सम्बन्धों के बीच इतना सुन्दर सम्मिश्रण और इतने ऊंचे स्तर का चित्रण भारतीय साहित्य में विद्यापति के अतिरिक्त और किसी ने प्रस्तुत नहीं किया है।"[६]

१—हिन्दी-साहित्य
२, हिन्दी साहित्य का इतिहास
३. कीर्तिलता की प्रस्तावना
४. कीर्तिलता की प्रस्तावना
५. कीर्तिलता की प्रस्तावना
६. Love in Hindu Literature, Page 20-21

डा० ग्रियर्सन आदि के मतों का विरोध करते हुए डा० सुभद्र झा कहते हैं—"भारतीय प्रतीकवादी (रहस्यवादी) कवियों की कविताओं में जैसे जायसी या कबीर के काव्य में जीवात्मा को परमात्मा से मिलने के लिए प्रयत्नशील दिखाया जाता है। परमात्मा स्वतः एक परिपूर्ण सत्ता होने के कारण निरपेक्ष है और वह न तो जीवात्मा से मिलने के लिए इच्छुक होता है और न कोई प्रस्ताव करता है। कबीर का 'साईं' या जायसी की 'पद्मावती' जो ब्रह्म के प्रतीक हैं, अतः 'बहुरिया' या 'रत्नसेन' के लिए आकांक्षा व्यक्त नहीं करते।"[1]

डा० जनार्दन मिश्र विद्यापति की पदावली को रहस्यवाद से परिपूर्ण अर्थात् पति के रूप में ईश्वर की उपासना मानते हैं। इस मन्तव्य के विरुद्ध पं० शिवनन्दन ठाकुर के आक्षेप निम्नलिखित हैं—

१ यदि विद्यापति अपने समय की परिस्थिति के प्रतिकूल किसी भी नवीन भक्तिमार्ग का प्रचार करना चाहते तो समसामयिक दार्शनिक मैथिल विद्वानों के द्वारा उस मत की गवेषणापूर्ण समालोचना अवश्य होती। परन्तु समालोचना की बात तो दूर रही, मिथिला की किसी पुस्तक में (संस्कृत या मैथिली में) पति के रूप में ईश्वर की उपासना की चर्चा भी नहीं है।

२. विद्यापति के समय से लेकर आज तक मिथिला को यह भी मालूम नहीं है कि इस तरह का भी एक भक्तिमार्ग है।

३ जिस प्रकार उदना की कथा किंवदन्ती के रूप में मिथिला में प्रसिद्ध है उसी प्रकार यदि विद्यापति पति के रूप में ईश्वर के उपासक होते तो उनकी उपासना, उसका प्रतिवाद, समर्थन आदि की कथा भी प्रसिद्ध रहती।

४. विद्यापति या अन्य किसी मैथिल कवि की रचना में पति के रूप में ईश्वर की उपासना की ओर संकेत नहीं पाया जाता।

५. दूसरे कवियों के ग्रन्थों के अध्ययन से भी इसी परिणाम तक हम पहुँचते हैं कि पति के रूप में ईश्वर की उपासना का प्रचार करना किसी भी मैथिल कवि का उद्देश्य नहीं था।[2]

डा० मिश्र ने अपने मत की पुष्टि में अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं जिनमें से प्रमुख चार तर्कों का ऊपर उल्लेख हो चुका है। इनका पहला तर्क यह है कि 'वैष्णव भक्त पूजा के समय विद्यापति की 'पदावली' और जयदेव के 'गीतगोविन्द' का पाठ किया करते थे।' वैष्णव भक्त से तात्पर्य संभवतः चैतन्य महाप्रभु और उनके शिष्यों से है क्योंकि श्री नगेन्द्रनाथ ने भी इसी बात का प्रमाण देते हुए कहा है कि चैतन्यदेव पर विद्यापति के पदों का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने कौमार व्रत धारण कर लिया। जहाँ तक

---

१. *Songs of Vidyapati, Page 183*
२. महाकवि विद्यापति, पृष्ठ १६४—१६६

'कौमार व्रत' की बात है, यह तो बिलकुल गलत है क्योंकि चैतन्य के एक नहीं दो विवाह हुए थे। रही प्रभाव की बात, चैतन्य भक्ति की उस भाव-भूमि पर पहुंच गये थे जहां लौकिकता का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। ऐसी अवस्था में यदि उन्हें राधा-कृष्ण के नाममात्र से ही भावावेश की तीव्रानुभूति हो जाती हो तो इसमें आश्चर्य नहीं। उनकी इस तीव्रानुभूति को विद्यापति के विषय में प्रमाण नहीं माना जा सकता।

'पूजा के समय गाये जाने' के विषय में सत्य यह है कि मिथिला में विद्यापति के पद दो श्रेणियों में विभक्त हैं। एक श्रेणी में शिव, दुर्गा, गंगा आदि की प्रार्थनाएं हैं, और दूसरी श्रेणी में राधा-कृष्ण के पद। गंगा के तट पर, शिवजी के मंदिर में, या किसी मंगलाचरण के समय प्रथम श्रेणी के पदों का गान होता है, और विवाह आदि के समय प्रधानतः दूसरी श्रेणी के पदों का। वैवाहिक वातावरण शृंगारिक होता ही है। इस प्रकार 'पदावली' के पद भक्ति के लिए नहीं, शृंगार के लिए ही प्रयुक्त होते हैं।

डा० मिश्र का दूसरा तर्क यह है कि "विद्यापति के युग में रहस्यवाद का प्रचार जोरों पर था। स्त्री और पुरुष के रूप में जो जीवात्मा और परमात्मा की उपासना का प्रवाह बह रहा था, विद्यापति ने उसी प्रवाह में अपने को बहा दिया।"

विद्यापति से भी पहले सूफीमत की स्थापना हो चुकी थी और रहस्यवाद एक प्रकार से इसी मत की बपौती थी। लेकिन सूफियों का रहस्यवाद अलौकिकता और लौकिकता में प्रेम-पथ के द्वारा एकता स्थापित करने का प्रयास करता है। विद्यापति की रचनाओं में ऐसा कोई भी प्रयास दृष्टिगत नहीं होता, और न तब रहस्यवाद इतनी प्रौढ़ता को ही पहुंचा था कि विद्यापति जैसे महत्वपूर्ण व्यक्ति उसकी ओर उन्मुख होते। विद्यापति पर सूफी प्रभाव नहीं पड़ा, इसका विवेचन करते हुए श्री० शिवप्रसादसिंह लिखते हैं—"विद्यापति पर रहस्यवाद का प्रभाव, खासतौर से सिद्ध-सूफी रहस्यवाद का प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि सिद्ध और सूफी दोनों ही जिन प्रतीकों का प्रयोग करते हैं, वे विद्यापति में नहीं पाये जाते।"[1]

मिथिला तो उस समय वैसे भी धार्मिक क्रांतियों के प्रभाव से अछूता था। डा० मिश्र भी इसे स्वीकार करते हैं। अतः विद्यापति पर रहस्यवाद का प्रभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता।

डा० मिश्र का तीसरा तर्क भी निराधार है। कारण यह है कि पदावली के अधिकांश पदों में राधा-कृष्ण का नाम तक नहीं आता। जिन पदों में राधा-कृष्ण या शिव-पार्वती का उल्लेख है उन्हें तो किसी प्रकार प्रतीक अर्थ में घसीटा भी जा सकता है, लेकिन जिनमें उल्लेख नहीं, उनका क्या होगा? इससे यह सिद्ध होता है कि विद्यापति ने राधा-कृष्ण का उल्लेख किसी प्रतीक अर्थ की प्रतीति के लिए नहीं किया, बल्कि कृष्ण-

डा० ग्रियर्सन आदि के मतो का विरोध करते हुए डा० सुभद्र झा कहते हैं—"भारतीय प्रतीकवादी (रहस्यवादी) कवियो की कविताओ मे जैसे जायसी या कबीर के काव्य मे जीवात्मा को परमात्मा मे मिलने के लिए प्रयत्नशील दिखाया जाता है। परमात्मा स्वत एक परिपूर्ण सत्ता होने के कारण निरपेक्ष है और वह न तो जीवात्मा से मिलने के लिए इच्छुक होता है और न कोई प्रस्ताव करता है। कबीर का 'साईं' या जायसी की 'पद्मावती' जो ब्रह्म के प्रतीक है, वह 'बहुरिया' या 'रत्नसेन' के लिए आकाक्षा व्यक्त नही करते।"[1]

डा० जनार्दन मिश्र विद्यापति की पदावली को रहस्यवाद से परिपूर्ण अर्थात् पति के रूप मे ईश्वर की उपासना मानते हैं। इस मन्तव्य के विरुद्ध प० शिवनन्दन ठाकुर के आक्षेप निम्नलिखित है—

१ यदि विद्यापति अपने समय की परिस्थिति के प्रतिकूल किसी भी नवीन भक्तिमार्ग का प्रचार करना चाहते तो समसामयिक दार्शनिक मैथिल विद्वानो के द्वारा उस मत की गवेषणापूर्ण समालोचना अवश्य होती। परन्तु समालोचना की बात तो दूर रही, मिथिला की किसी पुस्तक मे (सस्कृत या मैथिली मे) पति के रूप मे ईश्वर की उपासना की चर्चा भी नही है।

२. विद्यापति के समय से लेकर आज तक मिथिला को यह भी मालूम नहीं है कि इस तरह का भी एक भक्तिमार्ग है।

३. जिस प्रकार उदना की कथा किंवदन्ती के रूप मे मिथिला मे प्रसिद्ध है उसी प्रकार यदि विद्यापति पति के रूप मे ईश्वर के उपासक होते तो उनकी उपासना, उसका प्रतिवाद, समर्थन आदि की कथा भी प्रसिद्ध रहती।

४ विद्यापति या अन्य किसी मैथिल कवि की रचना मे पति के रूप मे ईश्वर की उपासना की ओर सकेत नही पाया जाता।

५. दूसरे कवियो के ग्रन्थो के अध्ययन से भी इसी परिणाम तक हम पहुचते हैं कि पति के रूप मे ईश्वर की उपासना का प्रचार करना किसी भी मैथिल कवि का उद्देश्य नहीं था।[2]

डा० मिश्र ने अपने मत की पुष्टि मे अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं जिनमे से प्रमुख चार तर्कों का ऊपर उल्लेख हो चुका है। इनका पहला तर्क यह है कि 'वैष्णव भक्त पूजा के समय विद्यापति की 'पदावली' और जयदेव के 'गीतगोविन्द' का पाठ किया करते थे।' वैष्णव भक्त से तात्पर्य सभवत चैतन्य महाप्रभु और उनके शिष्यो से है क्योकि श्री नगेन्द्रनाथ ने भी इसी बात का प्रमाण देते हुए कहा है कि चैतन्यदेव पर विद्यापति के पदो का ऐसा गहरा प्रभाव पडा कि उन्होने कौमार व्रत धारण कर लिया। जहा तक

१. *Songs of Vidyapati, Page 183*
२. महाकवि विद्यापति, पृष्ठ १६४—१६६

'कौमार व्रत' की बात है, यह तो बिलकुल गलत है क्योंकि चैतन्य के एक नहीं दो विवाह हुए थे। रही प्रभाव की बात, चैतन्य भक्ति की उस भाव-भूमि पर पहुंच गये थे जहां लौकिकता का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। ऐसी अवस्था मे यदि उन्हें राधा-कृष्ण के नाममात्र से ही भावावेश की तीव्रानुभूति हो जाती हो तो इसमें आश्चर्य नहीं। उनकी इस तीव्रानुभूति को विद्यापति के विषय में प्रमाण नहीं माना जा सकता।

'पूजा के समय गाये जाने' के विषय में सत्य यह है कि मिथिला मे विद्यापति के पद दो श्रेणियों में विभक्त हैं। एक श्रेणी में शिव, दुर्गा, गंगा आदि की प्रार्थनाएं हैं, और दूसरी श्रेणी में राधा-कृष्ण के पद। गंगा के तट पर, शिवजी के मंदिर में, या किसी मंगलाचरण के समय प्रथम श्रेणी के पदों का गान होता है, और विवाह आदि के समय प्रधानतः दूसरी श्रेणी के पदो का। वैवाहिक वातावरण शृंगारिक होता ही है। इस प्रकार 'पदावली' के पद भक्ति के लिए नहीं, शृंगार के लिए ही प्रयुक्त होते हैं।

डा० मिश्र का दूसरा तर्क यह है कि "विद्यापति के युग में रहस्यवाद का प्रचार जोरों पर था। स्त्री और पुरुष के रूप में जो जीवात्मा और परमात्मा की उपासना का प्रवाह बह रहा था, विद्यापति ने उसी प्रवाह में अपने को बहा दिया।"

विद्यापति से भी पहले सूफीमत की स्थापना हो चुकी थी और रहस्यवाद एक प्रकार से इसी मत की बपौती थी। लेकिन सूफियों का रहस्यवाद अलौकिकता और लौकिकता में प्रेम-पथ के द्वारा एकता स्थापित करने का प्रयास करता है। विद्यापति की रचनाओं में ऐसा कोई भी प्रयास दृष्टिगत नहीं होता, और न तब रहस्यवाद इतनी प्रौढ़ता को ही पहुंचा था कि विद्यापति जैसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति उसकी ओर उन्मुख होते। विद्यापति पर सूफी प्रभाव नहीं पड़ा, इसका विवेचन करते हुए श्री० शिवप्रसादसिंह लिखते हैं—"विद्यापति पर रहस्यवाद का प्रभाव, खासतौर से सिद्ध-सूफी रहस्यवाद का प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि सिद्ध और सूफी दोनों ही जिन प्रतीकों का प्रयोग करते हैं, वे विद्यापति में नहीं पाये जाते।"[१]

मिथिला तो उस समय वैसे भी धार्मिक क्रांतियों के प्रभाव से अछूता था। डा० मिश्र भी इसे स्वीकार करते हैं। अतः विद्यापति पर रहस्यवाद का प्रभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता।

डा० मिश्र का तीसरा तर्क भी निराधार है। कारण यह है कि पदावली के अधिकांश पदों में राधा-कृष्ण का नाम तक नहीं आता। जिन पदों में राधा-कृष्ण या शिव-पार्वती का उल्लेख है उन्हें तो किसी प्रकार प्रतीक अर्थ में घसीटा भी जा सकता है, लेकिन जिनमें उल्लेख नहीं, उनका क्या होगा? इससे यह सिद्ध होता है कि विद्यापति ने राधा-कृष्ण का उल्लेख किसी प्रतीक अर्थ की प्रतीति के लिए नहीं किया, बल्कि कृष्ण-

---

१. विद्यापति, पृष्ठ ६६

काव्य की परम्परा में बहकर अथवा जन-रुचि को देखकर नायक-नायिका के स्थान पर राधा कृष्ण का नाम ले दिया है।

डा० मिश्र के चौथे तर्क में भी कोई सार नहीं है, क्योंकि विद्यापति के अनेक पद ऐसे हैं जिन्हें किसी भी प्रकार प्रतीकार्थ में नहीं लगाया जा सकता और तब 'ईश्वर की पति रूप में उपासना' का तो प्रश्न ही शेष नहीं रह जाता।

अब रहा डा० श्यामसुन्दरदास का तर्क। हिंदी-साहित्य के इतिहास की दार्शनिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष स्वतः निकल आता है कि विद्यापति न तो माध्वाचार्य से प्रभावित हैं और न विष्णुस्वामी से। इनका सीधा सम्बन्ध गीतगोविन्दकार जयदेव से है, और उन्हीं के अनुकरण के कारण इन्हें 'अभिनव जयदेव' की उपाधि से विभूषित किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यापति को भक्तों की पंक्ति में बैठाने का प्रयास करने वाले विद्वानों के तर्क अधिक ठोस और प्रबल नहीं हैं।

विद्यापति को शृंगारी कवि सिद्ध करने के लिए प० शिवनन्दन ठाकुर ने 'महाकवि विद्यापति' में जो तर्क दिए हैं, वे ये हैं—

१ उस दार्शनिक युग में किसी विद्वान् के किसी ग्रंथ में पति के रूप में ईश्वर की उपासना का समर्थन या समालोचना नहीं है। उदना की कथा की तरह किंवदन्ती के रूप में भी यह प्रसिद्ध नहीं है।

२ तान्त्रिक उपासना की तरह इस उपासना का थोड़ा भी अनुकरण मिथिला में नहीं पाया जाता।

३ विद्यापति या अन्य किसी मैथिल कवि की रचना में पति के रूप में ईश्वर की उपासना की ओर संकेत नहीं पाया जाता।

४ विद्यापति की पदावली शृंगार-रस प्रधान आर्यासप्तशती आदि ग्रंथों के आधार पर रची गई है।

५. विवाह के अवसर पर गृहस्थआश्रम में नवप्रविष्ट स्नातक के कर्कश तर्कशास्त्र के अध्ययन से कठोर और मुग्धा के मुग्ध हृदय से अपरिचित हृदय पर गीत के रूप में रसमय शृंगार-रस की शिक्षा द्वारा उसका स्थायी भाव उत्पन्न करने के लिए ही पदावली की रचना हुई थी। यही उसका प्रधान उद्देश्य है।

६. पूजा के अवसर पर विद्यापति के पद का गान मिथिला में नहीं होता।

७. विद्यापति के प्रथम काव्य 'कीर्तिलता' में वेश्याओं तथा वनितियों का शृंगार रसमय विशद वर्णन है।

८. नायक के रूप में कृष्ण का और नायिका के रूप में राधा का वर्णन प्रथम शताब्दी की पुस्तक गाथासप्तशती में भी पाया जाता है।

९. विद्यापति की ग्रंथ-रचना का क्रम।

१०. चैतन्यदेव के मूर्च्छित होने का कारण केवल राधा-कृष्ण का नाम ही है।

११. कीर्तन की सृष्टि विद्यापति के २०० वर्षों के बाद हुई, इसलिए कीर्तन के उद्देश्य से विद्यापति ने पदों की रचना नहीं की थी।

१२. विद्यापति की मृत्यु के बाद सूफीमत को प्रौढ़ता मिली। रहस्यवादमय (प्रेममार्गी शाखा के) ग्रंथों की रचना का प्रारम्भ संवत् १५५८ में हुआ। मुसलमानों के कट्टर शत्रु राजा शिवसिंह के घनिष्ठ मित्र होने के कारण और मिथिला में किसी आर्थिक क्रान्ति के प्रभाव नहीं पड़ने के कारण मैथिल विद्वच्छिरोमणि विद्यापति सूफीमत से प्रभावान्वित हुए होंगे, यह विश्वास करने योग्य नहीं है।

१३. रहस्यवाद के ग्रंथों में यह प्रथा है कि ग्रंथ के किसी अंश में रहस्य का उद्घाटन रहता है जैसे कि जायसी, कबीर आदि के ग्रंथों में है। विद्यापति के ग्रंथों में यह बात नहीं है।

१४. सूफी-मतावलम्बियों की कविताओं की विशेषताएं इसमें नहीं पाई जातीं।

१५. 'कीर्त्तिपताका' में स्वयं विद्यापति ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि राम को सीता की विरह-वेदना सहनी पड़ी। इसलिए उन्हें कामकला-चतुर अनेक स्त्रियों के साथ रहने की उत्कट अभिलाषा हुई। इसी कारण उन्होंने कृष्णावतार लेकर गोपियों के साथ अनेक प्रकार के विहार किए। इससे यह स्पष्ट होता है कि राधा या कृष्ण के शृंगार वर्णन में कोई दार्शनिक गूढ़ रहस्य नहीं है, किन्तु राधा का अर्थ नायिका और कृष्ण का अर्थ नायक है।[१]

पंडितजी के इन तर्कों के आलोक में विद्यापति के शृंगारी कवि होने में तनिक भी संदेह नहीं रह जाता। इनके पदों में वे सभी विशेषताएं उपलब्ध हैं जो किसी सफल शृंगारी कवि के लिए अपेक्षित हैं। नायिका-भेद से लेकर रति-क्रीड़ा के नग्न और अश्लील वर्णन तक विद्यापति की लेखनी से निःसृत हुए हैं। उन वर्णनों को पढ़कर कोई भी पाठक यह नहीं कह सकता कि यह किसी भक्त कवि का हृदय बोल रहा है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में—

"विद्यापति के इस वाह्य संसार में भगवत भजन कहां ? इस वयः संधि में ईश्वर से संधि कहां ? सद्यः स्नाता में ईश्वर से नाता कहां ? अभिसार में भक्ति का सार कहां ? उनकी कविता विलास की सामग्री है, उपासना की साधना नहीं। उससे हृदय मतवाला हो सकता है, शान्त नहीं। हम इन भावों में आत्मविस्मृत हो सकते हैं, इसमें जागृति नहीं आ सकती। विद्यापति का भक्त हृदय उनकी वासनामयी भाव-कुंज-झटिकाओं में खो गया है। वे सौन्दर्य—संसार के सौन्दर्य में इतने विभोर हो गये हैं कि उनकी दृष्टि और किसी तरफ जाती ही नहीं ?"[२]

१. महाकवि विद्यापति, पृष्ठ २०६—२११
२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ५०६

डा० रामबाबू सक्सेना विद्यापति के पदों पर राधा-कृष्ण की भक्ति का आरोपण पद-पदार्थ के प्रति अन्याय समझते हैं।

इतने पर भी यदि कोई आलोचक विद्यापति के पदों में रहस्यवाद के दर्शन करे तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की शब्दावली में कहना पड़ेगा—

"आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने 'गीतगोविन्द' के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी। सूर आदि कृष्णभक्तों के शृंगारी पदों की भी ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं। पता नहीं बाल-लीला के पदों का वे क्या करेंगे। इस सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि लीलाओं का कीर्तन कृष्णभक्ति का एक प्रधान अंग है। जिस रूप में लीलाएं वर्णित हैं उसी रूप में उनका ग्रहण हुआ है और उसी रूप में वे गोलोक में नित्य मानी गई हैं, जहां वृन्दावन, यमुना, निकुंज, कदंब, सखा, गोपिकाएं इत्यादि सब नित्य रूप में हैं। इन लीलाओं का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं।"[1]

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न

वैसे तो यह प्रश्न यहीं समाप्त हो जाता है और उपर्युक्त विवेचन से इसमें तनिक भी शंका नहीं रह जाती कि विद्यापति शृंगारी कवि है, किन्तु इस समस्या पर एक और भी दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि तत्कालीन जनता की विद्यापति के प्रति क्या मान्यता थी? इस प्रश्न का उत्तर विद्यापति के विषय में प्रचलित किंवदन्तियों में निहित है। इन किंवदन्तियों में यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने समय में विद्यापति का समादर जनता में महान् भक्त के रूप में था, शृंगारी के रूप में नहीं, क्योंकि भक्तप्रवर महाकवि तुलसीदास के विषय में भी ऐसी ही किंवदन्तियां प्रचलित हैं, सूर के विषय में भी है। किसी भी शृंगारी कवि के प्रति ऐसी किंवदन्तियां न तो अभी तक सुनने में ही आई है और न भविष्य में कोई आशा ही है।

किंवदन्तियां बिलकुल निराधार नहीं होतीं। उनमें यत्किञ्चित् सत्य अवश्य ही अन्तर्निहित होता है, भले ही उनपर श्रद्धा और अनुराग के गहन आवरण पड़े हों। हमारा तो विश्वास है कि यदि इस दृष्टिकोण को लेकर तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और स्वयं कवि की व्यक्तिगत परिस्थितियों का विशद अध्ययन किया जाए तो यह समस्या सही ढंग से सुलझाई जा सकती है। और तब निःसंदेह विद्यापति भक्त ही सिद्ध होंगे, शृंगारी नहीं।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५७ ५८

: ७ :

विद्यापति की रस-योजना

जिसका आस्वादन किया जाए, या जिससे आस्वादन किया जाए, वह रस कहलाता है। इस परिभाषा के अनुसार गुड़ादि व्यंजनों के द्वारा निर्मित अनेक रस होते हैं जिनका जिह्वा आस्वादन करती है, किन्तु काव्य में वर्णित रस इन रसों से भिन्न होता है, क्योंकि यह इन्द्रिय का रस न होकर मन का रस है। यह रस अखंड, अभेद्य चिन्मय और ब्रह्मानंद-सहोदर होता है। काव्य-रस की निष्पत्ति के विषय में भरतमुनि का यह सूत्र अत्यन्त प्रसिद्ध है—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द विवादग्रस्त हैं जिनका अर्थ परवर्ती आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है।

रसराजत्व

संस्कृत के आचार्यों ने रसों की संख्या नौ मानी है—शृंगार, वीर, रौद्र, अद्भुत, वीभत्स, भयानक, हास्य, करुण और शांत। परवर्ती आचार्यों ने वत्सल और भक्ति-रस को जोड़कर यह संख्या ११ कर ली है। इन रसों के रसराजत्व में भी विद्वानों का मतैक्य नहीं है। कविराज विश्वनाथ के पितामह श्री नारायण कृति ने अद्भुत को प्रधान या मूल रस माना है। करुणमूर्ति महाकवि भवभूति करुण रस को ही रसराज मानते हैं और अन्य सभी रसों का उसमें अन्तर्निहित होना बताते हैं—

एको रस करुण एव निमित्तभेदात्।

कुछ आचार्यों ने वीर रस को रसराज सिद्ध किया है, किन्तु अधिकांश आचार्य शृंगार रस का ही रसराजत्व स्वीकार करते हैं। हिन्दी के इन आचार्यों में केशव प्रमुख है। केशव ने अन्य सभी रसों का शृंगार रस में समावेश करने का प्रयास किया है, यहां तक कि जुगुप्सा और वीभत्स जैसे वर्जित रसों को भी नहीं छोड़ा है—

श्री वृषभानुकुमारी हेतु 'शृंगार' रूप भय।
वास 'हास' रस हरे, मात-बंधन 'करुणामय'।
केशी प्रति अति 'रौद्र', 'वीर' मारो वत्सासुर।
'भय' दावानल पान पियो 'वीभत्स' बकी उर।

विद्यापति की रस-योजना

जिसका आस्वादन किया जाए, या जिससे आस्वादन किया जाए, वह रस कहलाता है। इस परिभाषा के अनुसार गुड़ादि व्यंजनों के द्वारा निर्मित अनेक रस होते हैं जिनका जिह्वा आस्वादन करती है, किन्तु काव्य में वर्णित रस इन रसों से भिन्न होता है, क्योंकि यह इन्द्रिय का रस न होकर मन का रस है। यह रस अखंड, अभेद्य चिन्मय और ब्रह्मानंद-सहोदर होता है। काव्य-रस की निष्पत्ति के विषय में भरतमुनि का यह सूत्र अत्यन्त प्रसिद्ध है—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द विवादग्रस्त है जिनका अर्थ परवर्ती आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है।

रसराजत्व

संस्कृत के आचार्यों ने रसों की संख्या नौ मानी है—शृंगार, वीर, रौद्र, अद्भुत, वीभत्स, भयानक, हास्य, करुण और शांत। परवर्ती आचार्यों ने वत्सल और भक्ति-रस को जोड़कर यह संख्या ११ कर ली है। इन रसों के रसराजत्व में भी [illegible] मतैक्य नहीं है। कविराज विश्वनाथ के पितामह श्री नारायण कृति ने [illegible] प्रधान या मूल रस माना है। करुणमूर्ति महाकवि भवभूति करुण रस को ही मानते हैं और अन्य सभी रसों का उसमें अन्तर्निहित होना बताते हैं—

एको रस करुण एव निमित्तभेदात्।

कुछ आचार्यों ने वीर रस को रसराज सिद्ध किया है, किन्तु अधि[illegible] शृंगार रस का ही रसराजत्व स्वीकार करते हैं। हिन्दी के इन आचार्य[illegible] प्रमुख हैं। केशव ने अन्य सभी रसों का शृंगार रस में समावेश करने का [illegible] है, यहाँ तक कि जुगुप्सा और वीभत्स जैसे वर्जित रसों को भी नहीं छोड़ा [illegible]

श्री वृषभानुकुमारी हेतु 'शृंगार' रूप भय।
वास 'हास' रस हरे, मात-बंधन 'करुणामय'।
केशी प्रति अति 'रौद्र', 'वीर' मारो वत्सासुर।
'भय' दावानल पान पियो 'वीभत्स' बकी उर।

डा० रामबाबू सक्सेना विद्यापति के पदों पर राधा-कृष्ण की भक्ति का आरोपण पद-पदार्थ के प्रति अन्याय समझते हैं।

इतने पर भी यदि कोई आलोचक विद्यापति के पदों में रहस्यवाद के दर्शन करे तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की शब्दावली में कहना पड़ेगा——

"आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने 'गीतगोविन्द' के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी। सूर आदि कृष्णभक्तों के शृंगारी पदों की भी ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं। पता नहीं बाल-लीला के पदों का वे क्या करेंगे। इस सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि लीलाओं का कीर्त्तन कृष्णभक्ति का एक प्रधान अंग है। जिस रूप में लीलाएं वर्णित हैं उसी रूप में उनका ग्रहण हुआ है और उसी रूप में वे गोलोक में नित्य मानी गई हैं, जहाँ वृन्दावन, यमुना, निकुंज, कदंब, सखा, गोपिकाएं इत्यादि सब नित्य रूप में हैं। इन लीलाओं का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं।"[1]

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न

वैसे तो यह प्रश्न यहीं समाप्त हो जाता है और उपर्युक्त विवेचन से इसमें तनिक भी शंका नहीं रह जाती कि विद्यापति शृंगारी कवि हैं, किन्तु इस समस्या पर एक और भी दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि तत्कालीन जनता की विद्यापति के प्रति क्या मान्यता थी ? इस प्रश्न का उत्तर विद्यापति के विषय में प्रचलित किंवदन्तियों में निहित है। इन किंवदन्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने समय में विद्यापति का समादर जनता में महान् भक्त के रूप में था, शृंगारी के रूप में नहीं; क्योंकि भक्तप्रवर महाकवि तुलसीदास के विषय में भी ऐसी ही किंवदन्तियां प्रचलित हैं, सूर के विषय में भी है। किसी भी शृंगारी कवि के प्रति ऐसी किंवदन्तियां न तो अभी तक सुनने में ही आई हैं और न भविष्य में कोई आशा ही है।

किंवदन्तियां बिलकुल निराधार नहीं होतीं। उनमें यत्किञ्चित् सत्य अवश्य ही अन्तर्निहित होता है, भले ही उनपर श्रद्धा और अनुराग के गहन आवरण पड़े हों। हमारा तो विश्वास है कि यदि इस दृष्टिकोण को लेकर तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और स्वयं कवि की व्यक्तिगत परिस्थितियों का विशद अध्ययन किया जाए तो यह समस्या सही ढंग से सुलझाई जा सकती है। और तब निःसंदेह विद्यापति भक्त ही सिद्ध होंगे, शृंगारी नहीं।

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५७-५८

: ७ :

विद्यापति की रस-योजना

जिसका आस्वादन किया जाए, या जिससे आस्वादन किया जाए, वह रस कहलाता है। इस परिभाषा के अनुसार गुड़ादि व्यंजनों के द्वारा निर्मित अनेक रस होते हैं जिनका जिह्वा आस्वादन करती है, किन्तु काव्य में वर्णित रस इन रसों से भिन्न होता है, क्योंकि यह इन्द्रिय का रस न होकर मन का रस है। यह रस अखंड, अभेद्य चिन्मय और ब्रह्मानंद-सहोदर होता है। काव्य-रस की निष्पत्ति के विषय में भरतमुनि का यह सूत्र अत्यन्त प्रसिद्ध है—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द विवादग्रस्त है जिनका अर्थ परवर्ती आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है।

रसराजत्व

संस्कृत के आचार्यों ने रसों की संख्या नौ मानी है—शृंगार, वीर, रौद्र, अद्भुत, बीभत्स, भयानक, हास्य, करुण और शांत। परवर्ती आचार्यों ने वत्सल और भक्ति-रस को जोड़कर यह संख्या ११ कर ली है। इन रसों के रसराजत्व में भी विद्वानों का मतैक्य नहीं है। कविराज विश्वनाथ के पितामह श्री नारायण कृति ने अद्भुत को प्रधान या मूल रस माना है। करुणमूर्ति महाकवि भवभूति करुण रस को ही रसराज मानते हैं और अन्य सभी रसों का उसमें अन्तर्निहित होना बताते हैं—

एको रस करुण एव निमित्तभेदात्।

कुछ आचार्यों ने वीर रस को रसराज सिद्ध किया है, किन्तु अधिकांश आचार्य शृंगार रस का ही रसराजत्व स्वीकार करते हैं। हिन्दी के इन आचार्यों में केशव प्रमुख हैं। केशव ने अन्य सभी रसों का शृंगार रस में समावेश करने का प्रयास किया है, यहां तक कि जुगुप्सा और बीभत्स जैसे वर्जित रसों को भी नहीं छोड़ा है—

श्री वृषभानुकुमारी हेतु 'शृंगार' रूप भय।
वास 'हास' रस हरे, मात-बंधन 'करुणामय'।
केशी प्रति अति 'रौद्र', 'वीर' मारो वत्सासुर।
'भय' दावानल पान पियो 'बीभत्स' बकी उर।

अति 'अद्भुत' वंच बिरंच मति, 'शांत' संतते शोच चित।
कहि केशव सेवउ रसिकजन, नव रस मे ब्रजराज नित।

इन पंक्तियों मे कवि ने कृष्ण के व्यक्तित्व मे नव रसों को एक ही स्थान पर पुंजीभूत कर दिया है, अर्थात् 'रसिक जन' कृष्ण मे शेष आठो रसो की प्रतिस्थापना कर दी है। यह सत्य है कि केशव अपने इस प्रयोग मे सफल नही हुए हैं, फिर भी शृंगार रस के रसराजत्व के प्रति उनके अथाह मोह की दाद ही देनी चाहिए।

शृंगार रस

यदि प्रसार और व्यापकता की दृष्टि से देखा जाए तो शृंगार रस सबसे अधिक व्यापक और विस्तृत है। इसकी सीमा मे हृदय की प्राय. सभी वृत्तियाँ आ जाती है, जीवन का लगभग सम्पूर्ण विस्तार समा जाता है। जीवन केवल उत्साह, क्रोध, विस्मय, जुगुप्सा, भय, हास, शोक, शम या वात्सल्य ही नही है, बल्कि सुख-दुख का समुचित समन्वय है। केवल सुख को ही जीवन समझने वाले लोगो को 'प्रसाद' की यह चेतावनी याद रखनी चाहिए—

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओ का मूल।
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत जाओ इसको भूल।[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन अपने सुखात्मक और दुखात्मक समन्वय मे ही पूर्ण है। इसमे तनिक भी सदेह नही कि शृंगार रस ही अपने दो पक्षो—सयोग और वियोग—के कारण समग्र जीवन को स्वयं में समेटने मे समर्थ है। अन्य रसो मे यह सामर्थ्य कहाँ ? अत शृंगार रस को रसराज मानना उचित है।

शृंगार रस की महत्ता के विरुद्ध कुछ आलोचको का यह आक्षेप है कि इसका क्षेत्र अभद्र और अश्लील भी है। यह आक्षेप नया नही। इसका उत्तर देते हुए भरतमुनि ने कहा है कि वस्तुतः शृंगार रस सब रसो मे निर्मल और आत्मा को उच्च बनानेवाला है।[2] शारदातनय की शृंगार सम्बन्धी धारणा अत्युच्च है। उनके अनुसार आत्मा का प्रेम ही बाह्य पदार्थों या व्यक्ति के प्रति प्रेम मे प्रकाशित होता है। शृंगार रस मे अभिव्यक्त प्रेम वस्तुत सात्विक कोटि का होता है।[3] स्वय भोज की धारणा भी इसके सम्बन्ध मे

१. कामायनी : श्रद्धासर्ग
२. नाट्यशास्त्र : अध्याय ६
३. या चैतन्यच्छाया जगत समृद्धोः परमात्मनः।
विषमावना रति सैव शृंगार इति गीयते।
—भोज शृंगार-प्रकाश जिल्द १, भाग २ पृष्ठ ४६

बहुत उदात्त थी। डा० नगेन्द्र ने भी शृंगार-रस की महत्ता इन शब्दों में स्वीकार की है—

"शृंगार का अर्थ है कामोद्रेक। उसके आगमन अर्थात् उत्पत्ति का कारण ही शृंगार कहलाता है। उत्तम प्रकृति का ही कामोद्रेक जिसमें शारीरिकता का ही प्राधान्य हो, शृंगार के अन्तर्गत नहीं आ सकता।"[१]

अभिप्राय यह है कि शृंगार के अन्तर्गत रति के वे ही भाव आयेंगे जो रसानुभूति का उद्रेक करते हैं। जो भाव अश्लील या अभद्र होकर रसानुभूति में बाधक होंगे, वे शृंगार रस नहीं, शृंगार रसाभास कहे जायेंगे।

शृंगार रस का विवेचन

शृंगार रस का स्थायी भाव रति है। प्रारंभ में रति-भाव की सीमा केवल कांता-विषयक-रति तक ही सीमित थी, किन्तु कालांतर में इसका विस्तार होता गया। शनैः शनैः आचार्यों ने कांता विषयक, पुत्र-विषयक, देव-विषयक और राजा-विषयक रति को भी 'रतिभाव' की परिधि में सम्मिलित कर लिया। निस्संदेह, इन नये आलंबनों का ग्रहण हृदय के विकसित, परिष्कृत, सुसंस्कृत तथा समुन्नत होने का परिचायक है। अनुराग की कोई सीमा नहीं हो सकती, इसलिए रति के आलंबन भी असंख्य हो सकते है। विद्यापति का शृंगार-वर्णन केवल कांता-विषयक रति तक ही सीमित है, अतः हमें अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं।

शृंगार रस के दो पक्ष होते हैं—संयोग और वियोग। संयोग में प्रेमी-युगल साथ-साथ रहता है तथा वियोग में बिछुड़ जाता है। संयोग पक्ष में कवि की बहिर्मुखी वृत्ति प्रधान होती है और वियोग में अन्तर्मुखी। सयोग में आलंबन के रूप, उसकी चेष्टाओं और मिलन-क्रीड़ाओं के साथ-साथ प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन किया जाता है। वियोग में आलंबन की दशाओं का वर्णन होता है। प्रकृति का उद्दीपन रूप इसमें भी आता है, किन्तु प्रयोग में अन्तर होता है। संयोग में प्रकृति मिलन-सुख को उद्दीप्त करती है और वियोग में विरह दुख को। संयोग में इसका वर्णन षड्ऋतु के रूप में किया जाता है और वियोग में बारहमासे के रूप में। प्रकृति की एक ही अवधि के ये दो भिन्न-भिन्न नामकरण मनोविज्ञान पर आधारित है। षड्ऋतु और बारहमासे में दूनी अवधि का भेदाभास होता है। इसका मनोवैज्ञानिक अर्थ यही है कि सुख की घड़ियां देखते-देखते ही बीत जाती है और दुख के दिन काटे नही कटते। कहने की आवश्यकता नही कि विद्यापति की पदावली मे शृंगार-रस के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—का विस्तृत वर्णन है।

१- विचार और विवेचन, पृष्ठ ३७

संयोग-वर्णन

जैसा कि अभी कह चुके हैं, संयोग-वर्णन के अन्तर्गत आलंबन का रूप, उसकी चेष्टाएँ, आलंबन और आश्रय की मिलन-क्रीडाएँ तथा प्रकृति का उद्दीपन रूप आता है। विद्यापति की पदावली में संयोग के इन सभी अंगों का इतना सजीव और यथा-तथ्य वर्णन है कि कतिपय आलोचक इनके संयोग-वर्णन को वियोग-वर्णन की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट और सफल मानते हैं, अत इसके प्रत्येक अंग पर पृथक्-पृथक् विचार करना अनुपयुक्त न होगा।

आलंबन का रूप

रूप-चित्रण का विश्लेषण करने के लिए आलंबन को दो रूपों में देखना होगा। उसका एक रूप बाह्य है और दूसरा आन्तरिक। बाह्य रूप के अन्तर्गत उसका सौन्दर्य आता है और आन्तरिक रूप के अन्तर्गत उसकी मन.स्थिति। इन दोनों रूपों का समन्वित रूप ही रूप का पूर्णरूप है। अत आलंबन के रूप-वर्णन में उसके बाह्य और आन्तरिक दोनों रूपों को देखना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि विद्यापति के रूप-चित्रण में इन दोनों रूपों का वर्णन मिलता है।

विद्यापति की पदावली का आलंबन राधा है। पदावली में राधा का दर्शन तब होता है जब वह बचपन के भोले जगत को छोड़कर यौवन के मदमाते लोक में प्रवेश कर रही है। सूर के काव्य की भाँति यहाँ बालिका राधा के लिए कोई स्थान नहीं है। यहाँ तो वह 'शिशुता की झलक' छोड़े बिना ही 'अंगों में यौवन की झलक' लिए हुए है। उसका अगला कदम यौवन-प्रदेश की सीमा पर आ गया है और पिछला अभी पूरी तरह से बाल-सीमा को लाँघ नहीं पाया है। नायिका की इसी अवस्था को 'वय संधि' कहा जाता है। नायिका के अंगों और भावों में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आ जाता है। विद्यापति ने इस वय का वर्णन इस प्रकार किया है—

सैसव जौवन दरसन भेल,
दुहु पथ हेरइत मनसिज गेल।
मदन क भाव पहिल परचार,
भिन जन देल भिन अधिकार।
कटि क गौरव पाओल नितम्ब,
एकक खीन अओक अवलम्ब।
प्रकट हास अब गोपत भेल,
उरज प्रकट अब तन्हिक लेल।
चरण चपल गति लोचन पाव,
लोचन क धइरज पदतल जाव।

यौवन की देहरी पर कदम रखते ही शारीरिक अवयवों और मानसिक स्थितियों में जो महान् तथा स्वाभाविक परिवर्तन आ जाते हैं, उनका इस पद में सजीव वर्णन है। कटि पतली और नितम्ब भारी हो गए हैं, छिपे हुए उरोज तनिक लालिमा लिए प्रकट होने लगे हैं, चरणों में धीरता और नयनों में चंचलता आ गई है तथा प्रकट हँसी को अब छिपाने का प्रयास किया जाता है। इनमें कटि, उरोज और नितम्बों के परिवर्तनों को छोड़कर शेष सभी परिवर्तनों में मनःस्थिति कार्य कर रही है। जिस प्रकार वयः संधि स्वयं—बचपन और यौवन का—एक द्वन्द्व है, उसी प्रकार यह वर्णन भी द्वन्द्वात्मक है। कुछ शारीरिक अवयवों पर मनःस्थिति का अंकुश नहीं है और कुछ (चरण, लोचन, हास) पर पूर्णरूप से नियन्त्रण है। नायिका की वस्तुतः जैसी स्थिति है, इस वर्णन का क्रम भी वैसा ही उलझा हुआ है।

यों तो संस्कृत और हिन्दी के कवियों ने भी वयः संधि के वर्णन किए हैं, किन्तु विद्यापति के वर्णन की-सी प्रभावोत्पादकता और काव्यत्व का उनमें अभाव है। उदाहरणार्थ, काव्यप्रकाश का यह वर्णन देखिए—

'श्रोणी बन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः।
पद्भ्यां मुक्तास्तरल गतयः संश्रिता लोचनाभ्याम्॥
वक्षः प्राप्तं कुचसचिवतामद्वितीयन्तु वक्त्रम्।
तद् गात्राणां गुणविनिमयः कल्पितो यौवनेन॥'[1]

इसमें शारीरिक परिवर्तनों का तो वर्णन है, किन्तु कामदेव राजा की कल्पना के अभाव में नायिका की मानसिक हलचल और परवशता का अभाव है। इसीलिए यह अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली है।

बिहारी ने राजा कामदेव की कल्पना तो की है, परन्तु नायिका की मनःस्थिति के वर्णन का उनमें भी अभाव है—

'अपने अँग के जानि कै जोवन-नृपति प्रवीन।
स्तन, मन, नैन, नितंब को बड़ो इजाफो कीन॥'[2]

यदि काव्यप्रकाशकार और बिहारी इन दोनों के वर्णनों को एक साथ मिला भी दिया जाए, तो भी विद्यापति की समता नहीं कर पाते। यही है विद्यापति की काव्य-प्रतिभा की महत्ता!

वयः संधि के पश्चात् तो बचपन का सारल्य बिलकुल तिरोहित हो जाता है और शरीर पर यौवन का पूर्णरूप से अधिकार हो जाता है। शरीर के समस्त अवयव सौन्दर्य की अनुपम कूँची से निखार पाकर दमक उठते हैं। उस समय नायिका रूप-यौवन की छलकती हुई गगरी बन जाती है। विद्यापति ने इस अवस्था के रूप-वर्णन में

१. काव्य-प्रकाश
२. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ४

प्राचीन परम्परा का ही अनुसरण किया है और इसका विशद चित्रण 'नखशिख' शीर्षक के अन्तर्गत किया है। डा० रामरतन भटनागर के शब्दों में—

"इस नखशिख के लेखन में उन्होंने (विद्यापति ने) प्राचीन कवियों के काव्य से पद-पद पर सहारा लिया है और नारी के अंगों के सम्बन्ध में प्रचलित सभी काव्य-रूढ़ियों को आत्मसात् कर लिया है।"[1]

विद्यापति की नायिका अनुपम सुंदरी है। सौन्दर्य के सभी उपमान उस में आकर एक स्थान पर ही पुंजीभूत हो गए हैं—

कि आरे ! नव जौवन अभिरामा।
जत देखल तत कहए न पारिअ,
छओ अनुपम एक ठामा।
हरिन इन्दु अरविन्द करिनि हेम,
पिक बूझल अनुमानी।
नयन बदन परिमल गति तन रुचि,
अओ अति सुललित बानी।
कुच जुग परसि चिकुर फुजि पसरल
ता अरुझायल हारा।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि उगल,
चाँद बिहुनु सब तारा।
लोल कपोल ललित मनि कुंडल,
अधर बिम्ब अध जाई।
भौंह भ्रमर नासापुट सुंदर,
से देखि कीर लजाई।

इस वर्णन में कवि ने परंपरागत उपमानों के द्वारा नायिका के रूप का चित्रण किया है। हरिण, चन्द्रमा, कमल, हस्तिनी, सोना और कोकिल के द्वारा नायिका के नेत्रों का सौन्दर्य, मुख-सुषमा, शरीर की सुगन्धि, मस्तानी चाल, देह की कांति और वाणी की मधुरता व्यंजित है।

रूप-वर्णन में नायिका के शरीर का कोई भी अंग ऐसा नहीं बचा जिस पर महाकवि विद्यापति की दृष्टि न पहुँची हो, वरन् एक ही अंग के सौन्दर्य-वर्णन के लिए भाँति-भाँति के उपमान सजाए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नायिका का अपूर्व सौन्दर्य देखकर कवि की सौन्दर्य-भावना सहस्र धाराओं में फूट पड़ती है। एक ही अंग का विविध उपमानों से वर्णन करने के पश्चात् भी कवि की सौन्दर्यानुभूति तृप्त होती दिखाई नहीं देती। जिस प्रकार घनानंद की 'मौन पुकार' में उनकी अन्तर्वेदना की

1 विद्यापति, पृष्ठ ६७-६८

सबल अभिव्यक्ति निहित है, इसी प्रकार विद्यापति की इस अतृप्ति में नायिका का अगाध और अनिंद्य सौंदर्य-सागर हिलोरें ले रहा है। इस प्रसंग में श्री नरेन्द्रदास का यह मन्तव्य अत्यन्त सार्थक है—

"राधा के भुवन मोहन लावण्यता के एक से एक सुन्दर पद विद्यापति ने लिखे हैं जिनमें उनकी सुन्दरता अक्षर-अक्षर पर निखर रही है। कहाँ तक कहा जाए, राधा का अलौकिक रूप-लावण्य कवि के लिए पहेली बन गया है। इस पहेली को समझाने को कवि ने अनेकों प्रकार की कल्पना की हैं।"

आलंबन के एक ही अवयव के सौन्दर्य-वर्णन के लिए विद्यापति ने भिन्न-भिन्न उपमानों का प्रयोग किया है। उन्हे संक्षिप्त विधि से इस प्रकार देखा जा सकता है—

मुख के लिए—

चन्द्रमा, शशि, निशाकर, कलंकहीन चन्द्र, कमल, कनक, मुकुर आदि।

अधर के लिए—

बिम्बफल, प्रवाल, मधुरिफुल, राग, विद्रुम-पल्लव आदि।

दांतों के लिए—

दाड़िम विजु, मुक्ता, कुन्द, गजमोति-पांति, मणि आदि।

वेणी के लिए—

राहु, फणि, भृंग, शैवाल, चमरी, तम, यमुना, जलधर आदि।

नेत्रों के लिए—

हरिण, सारंग, चकोर, कुरंगिनी, नलिनि, सफटि, मधुकर, भृंगि, खंजन, जोति, भृंग, मदनधनु, कमल, नवजलधर, कुवलय आदि।

कुन्तलों के लिए—

सारंग, भ्रमर, जलधर, तिमिर, चामर आदि।

शरीर की कमनीयता के लिए—

कनकलता, तड़ित दण्ड, हेम मंजरी, विद्युत् रेखा, द्रोणलता आदि।

नासिका के लिए—

कीर, तिलकुल, गरुड़-चंचु आदि।

भौंहों के लिए—

लता, धनु, भ्रमर, भुजंगिनी, अर्द्धचन्द्र, कमान, मदन चाप आदि।

स्तनों के लिए—

कमल, चकोर, श्रीफल, तालमुग, हेमकलश, गिरि, उल्टा हुआ कनक-कटोरा, कमल कोरक, घट, दाड़िम, शंभु, कंचनगिरि, वदरि, नवरंग, बड़ा नींबू, कनक महेश, सुमेरु, कुंभ, हेमनलिन आदि।

रोमलतावलि के लिए—

शैवाल, कज्जल, मन्मथ-धनु, भुजगिणी आदि।

जघा के लिए—

कनक कदलि, कदली, करिवर कर विपरीत कनक कदली आदि।

गति के लिए—

गजराज, राजहंस, हस्तिनी आदि।

त्रिवली के लिए —

तरंग लीला, लता, यमुना-तरंग आदि।

पद-तल के लिए—

स्थल कमल, स्थल पंकज, कमलदराज आदि।

बाहुओं के लिए—

कनक मृणाल, हेम कमल मिहिर, पंकज आदि।

नाभि के लिए—

सरोवर, सरोरुह दल, विवर आदि।

इन विविध उपमानों के प्रयोग से यह निष्कर्ष अनायास ही निकल आता है कि विद्यापति की सौन्दर्य-पिपासा अगाध है जो विभिन्न उपमान-कूपों का शीतल जल-पान करने के बाद भी ज्यों की त्यों दिखाई देती है। हाँ, इस प्रकार कवि ने उसे बुझाने का प्रयत्न अवश्य किया है। डा० रामरतन भटनागर का यह कथन उचित ही है—

"विद्यापति ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय प्रेम एवं सौन्दर्य का कवि है। वह उपमानों और अलंकारों के बिना चित्र रच सकता है, परन्तु उसे सौन्दर्य से अत्यन्त प्रेम है, अत अनेक प्रकार से उसे पुष्ट करता है।"[1]

जिस मनुष्य का मन जिस बात में रमा रहता है, वह उसके लिए अनेकानेक अवसर खोजा करता है। विद्यापति की सौन्दर्य-भावना भी ऐसे अवसरों को या तो ढूँढ निकालती है, या उनका निर्माण कर लेती है। वय सन्धि और नखशिख के अतिरिक्त पूर्वराग और अभिसार के प्रसंगों में भी रूप-चित्रण बहुलता से मिलते हैं। अभिसार-प्रसंग के ये वर्णन देखिए—

'चानन आनि आनि अँग लेपल,
भूषन कए गजमोति।
अंजन बिहुन लोचन-जुगल,
धरत धवल जोति॥'

× × ×

१. विद्यापति, पृष्ठ ८३

'देह-जोति ससि-किरन समाइति
के बिभिनावए पार ।'

इन पदों में शुक्लाभिसारिका नायिका के रूप का वर्णन है। उसकी काजल-विहीन स्वच्छ आँखों में ज्योत्स्ना की-सी धवलता है और शरीर की कांति तो चांदनी में घुलकर ऐसी मिल जाती है कि किसी प्रकार पृथक् हो नहीं हो सकती।

नायिका के अतिरिक्त विद्यापति ने नायक के रूप का भी वर्णन किया है। काली-कलूटी लैला में सौन्दर्य का अमित सागर देखनेवाली मजनूँ की-सी आँखें तो सबको सुलभ नहीं होतीं, अतः प्रेम की परिपक्वता के लिए दोनों ओर सौन्दर्य की छल-छलाहट आवश्यक है। विद्यापति की नायिका—राधा—यदि सर्वसुन्दरी है तो नायक—कृष्ण—भी सुन्दरता में अपना उपमान नहीं रखते। राधा जितनी लावण्य-मयी है, कृष्ण भी उतने ही सौन्दर्यागार हैं। यही सौन्दर्य तो प्रेम-नाटक की भूमिका का सर्वप्रथम और सर्व-प्रमुख आधार है। नायिका अपनी सखी से कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन इन शब्दों में करती है—

ए सखि ! पेखलि एक अवरूप,
सुनइत मानवि सपन सरूप ।
कमल जुगल पर चाँद क माल,
तापर उपजल तरुन तमाल ।
तापर वेढ़ल विजुरिलता,
कालिंदी-तट धीरे चल जता ।
सखा-सिखर सुधारस पाँति,
ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति ।
बिमल बिम्बफल जुगल बिकास,
तापर कीर थीर करु वास ।
तापर चंचल खंजन जोर,
तापर साँपिनी झाँपल मोर ।

इस वर्णन के पढ़ने से ज्ञात होता है कि विद्यापति की सौन्दर्य-भावना नायिका-नायक दोनों के लिए समान है। समानता की समतल धरा पर ही तो प्रेम का पौदा पल्लवित और पुष्पित होता है, विद्यापति इस रहस्य से अभिज्ञ थे, तभी तो इन्होंने नायक के सौन्दर्य का शृंगार भी उन्हीं उपमानों से किया है, जो नायिका के लिए प्रयुक्त हुए हैं। और ऐसे रूप-राशि कृष्ण को देखकर राधा का ज्ञान लुप्त हो जाना स्वाभाविक ही है।

आलंबन की चेष्टाएं

चेष्टाओं का सामान्य अर्थ है संकेत। यों तो किसी भी संकेत को चेष्टा कहा जा

सकता है, किन्तु साहित्य मे इसका प्रयोग सामान्य अर्थ मे नही विशेष अर्थ मे होता है। काव्य मे चेष्टाए केवल वे ही सकेत कहे जाते हैं जिनके द्वारा नायक नायिका अपनी मन-स्थिति की अभिव्यजना करते हैं। प्रेम की भाषा की प्रभावोत्पादकता वाणी मे नहीं, चेष्टाओ मे ही निहित है। हमारी तो धारणा यह है कि वाणी के माध्यम से व्यक्त प्रेम हलका और फीका पड जाता है।

ज्योहि नायक-नायिका बचपन को पूर्णरूप से छोडे बिना ही यौवन मे उतरते हैं, उनमे अभूतपूर्व परिवर्तन आ जाते हैं। वय सधि मे शारीरिक परिवर्तनो के अतिरिक्त मानसिक परिवर्तन भी आ जाते हैं। एक ओर बचपन की सहज सरलता का पुलिन होता है तो दूसरी ओर यौवन का तरगित प्रवाह। नायिका इन दोनो के बीच मे फँसकर डग-मगाने लगती है। उस समय उसकी दशा भँवर मे पडी उस नाव की-सी होती है जो कभी पुलिन की ओर बह चलती है तो कभी धारा के प्रवाह की ओर। नायिका का जीवन दो विरोधी भावधाराओ के सघर्ष का युद्धस्थल बन जाता है। विचारो और क्रिया कलापो के इन्ही वैविध्यो का वर्णन विद्यापति ने इस प्रकार किया है—

खने-खन नयन कोन अनुसरई,
खने खन बसन धूलि तनु भरई।
खने खन दसन-छटा छुट हास,
खने खन अधर आगे गहु बास।
चउंकि चलए खने खन चलु मन्द,
मनमथ पाठ पहिल अनुबन्ध।
हिरदय मुकुल हेरि-हेरि थोर,
खने आँचर दए खने होए भोर।

इन पक्तियो मे विविध चेष्टाओ के माध्यम से नायिका की उन अस्त-व्यस्त क्रियाओ का सजीव चित्रण है जो मन्मथ की पहली ही भूमिका मे वह प्रारभ कर देती है। क्षण-क्षण मे कटाक्ष करना, अचल को धूल मे गिरा देना, मुस्कुराना और फिर हँसी को वस्त्र से छिपा लेना, कभी चौक कर चलना और कभी मद गति से चलना आदि अनेक चेष्टाए इस पद मे पुजीभूत हैं।

प्रेम-प्रसग मे भी नायिका की चेष्टाओ के वर्णन हैं। राधा कृष्ण से मिली और अनेक प्रकार की उत्तेजक चेष्टाए करके चली गई—आधे अचल को खिसकाकर, मुस्कुराकर, तीखा कटाक्ष करके, अधखुले उरोजो को दिखाकर—वह चली गई और बाद मे कृष्ण को कामाग्नि मे जलने के लिए छोड़ गई—

आध आँचर खसि आध बदन हसि,
आधहि नयन तरंग।

आध उरज हेरि आध आँचर भरि,
तबधरि दगधे अनंग।

मिलन-क्रीड़ाएं

मिलन (संभोग) संयोग की वह अंतिम सीमा है जिस तक पहुंचने के लिए नायक-नायिकाओं को जितने सुखद-मधुर कल्पनाओं से रंगे हुए, मंजुल सपनों से सजे हुए, आवेग-उद्वेगों से भरे हुए तथा दुखद-बंधनों के तीक्ष्ण कटकों से परिपूर्ण, कसकती आहों से दोलायमान, सिसकती श्वासों से स्पंदित प्रदेश पार करने पड़ते हैं; प्रथम दर्शन-जन्य प्रेमांकुर को पुष्पित और फलित वृक्ष बनने के लिए समीरण के जितने चुंबन और झंझावात के जितने विषम प्रहार अपेक्षित हैं, उन सभी का विद्यापति ने पूर्ण मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। विद्यापति के मिलन-चित्र अत्यंत स्वाभाविक हैं।

मिलन से पूर्व भय और लज्जा का नायिका में आधिक्य होता है। वह प्रियतम के पास जाने में भय भी खाती है और लजाती भी है। उसके पैर शयन-कक्ष की ओर नहीं उठते। तब उसकी सखियां ही उसे वहां तक पहुंचाती हैं। राधा की सखियां भी उसे मधुर भर्त्सना देती है—

सुन्दरि चललिहु पहु-घर ना।
चहुदिस सखि सब कर धर ना॥

सखियों के इस आग्रह का राधा पर एक ही उत्तर है—

अहे सखि अहे सखि लए जनि जाह।
हम अति बालिक आकुल नाह॥

इस उत्तर में कितनी स्वाभाविकता और विवशता है। एक ओर प्रियतम की कठोर मिलनोत्कंठा है और दूसरी ओर नायिका के हृदय का बचपन जैसा भोलापन। दोनों का मिलन असंगत ही है और इनके मिलाने का दुराग्रह हृदय की हृदय-हीनता ही है। लेकिन सखियों के लिए यह अनुनय-विनय कोई नई बात नहीं। यह तो अभोग्या युवती की शाश्वत प्रार्थना है। वे राधा को कृष्ण के पास छोड़ ही आती हैं।

शयन-कक्ष की एकांतता में काम-पीड़ित नायक को देखकर नायिका का जीवन एक बार तो डोल ही जाता है। वह अन्य उपाय न देखकर अपने ही वस्त्रों में स्वयं को छिपाने का उपक्रम नहीं, प्रयास करती है; पर मन का भय तो प्रयासमात्र से दूर नहीं होता। उसकी प्रतिक्रिया होती है कम्पन—

आँचर लेइ बदन पर झाँप।
थिर नहि होइअ थर-थर काँप॥

पर प्रियतम को संतोष कहां? वह तो चन्द्र-मुख का अवलोकन निर्निमेष दृष्टि से कर लेना चाहता है और लज्जावती नायिका उस पर बार-बार आवरण डालने का प्रयत्न करती है जिसका परिणाम होता है कि नायक नायिका को गोद में भर लेता है—

मुख हेरि ताकए, भ्रमर झाँपि लेत ।
अरुन करि करैं कमलमुति लेल ।।

राधा के निकट आकर सब उपायों को असफल देखकर अपनी लाज पर आवरण डालने के लिए नारी का पैर की अगुलियों से धरती को कुरेदना नारी हृदय का यथातथ्य चित्रण है—

जतने आएलि धनि सयन क सीम ।
पागुर लिखि खिति नत रहु गीम ।।

कहने का अभिप्राय यह है कि सयोगावस्था के जितने चित्र हो सकते हैं वे सब पदावली मे भली-भाति मिल जाते है, किन्तु कही-कही वे अधिक स्थूल, मासल और अश्लील भी हो गए है। यथा—

निवि-बधन हरि किए कर दूर,
एहो पए तोहर मनोरथ पूर ।
हेरने कओन सुख न बुझ बिचारि,
बड़ तुहु ढीठ बुझल बनमारि ।
हमर सपथ जौं हेरह मुरारि,
लहु लहु तब हम पारब गारि ।

कतिपय आलोचक ऐसे पदो पर अलौकिकता का आवरण डालकर उनकी अश्ली-लता को आच्छादन करने का प्रयास करते है, पर झीने पर्दे की रुकावट ही क्या होती है, और फिर ऐसे पदो पर पर्दा पड भी कैसे सकता है। काव्य मे यथार्थ अथवा भावना के नाम पर भी शालीनता का उल्लघन सहज नही हो सकता।

प्रकृति का उद्दीपन

अनादि काल से ही मानव की भावनाओ का प्रकृति से अटूट सबध रहा है। मानव ने प्रकृति मे सदैव ही अपने मनोविकारो की छाया देखी है, अत प्रकृति उसकी भावनाओ के उद्दीपन का साधन है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सयोग मे प्रकृति मिलनेच्छा तथा वासनाओ को उद्दीप्त करती है और वियोग मे दुख की दारुणता की वृद्धि करती है। पदावली मे प्रकृति का दोनो अवस्थाओ मे ही प्रयोग किया गया है।

अवधि की सीमा के अनुसार सयोग मे प्रकृति का वर्णन षड्ऋतु के अन्तर्गत किया जाता है, किन्तु विद्यापति ने केवल वसत ऋतु को ही चुना है, सभवत इसलिए कि वसत ऋतुराज होने के साथ-साथ कामोद्दीपन का प्रमुखतम कारण भी है। बसत मे जब सुवा-सित मलयानिल मद-मद बहता है और भौरे अपनी गुजारो से स्पदित वातावरण के जीवन मे गहरी मादकता घोल देते हैं, तब कुसुमसायक अपने अस्त्र-शस्त्रो से सज्जित हो-कर निकल ही पडता है। उद्दीपन रूप मे विद्यापति का यह वर्णन देखिए—

"मलय पवन वह। बसंत विजय कह॥
भमर करइ रोर। परिमल नहि ओर॥
रितुपति रंग देला। हृदय रभस भेला॥
अनंग मंगल मेलि। कामिनी करथु केलि॥"

ऐसे वातावरण मे स्त्रियों में कोई भेद नहीं रहता। चाहे जिस स्वभाव की हों, चाहे जिस वर्ग की हों, एक ही वारि (काम-वासना) में डूबने लगती हैं—

"हस्तिनि, चित्रिनि, पद्मिनि नारि।
गोरी सामरी एक बूढ़ि वारि॥"

निष्कर्ष यह है कि विद्यापति का संयोग-वर्णन अत्यन्त उत्कृष्ट और सजीव है। आलंबन के अगाध सौन्दर्य-सागर के साथ-साथ उनकी अन्तर्वृत्तियों का भी स्वाभाविक चित्रण है। प्रेम के अंकुरित होने से संयोगावस्था की जितनी भी दशाएं होती हैं, वे सब इनके पदों में उपलब्ध हैं। प्रकृति का उद्दीपन रूप केवल बाह्य वातावरण का ही शृंगार नहीं, अन्तर्वृत्तियों का उद्दीपक भी है। श्री रामवाशिष्ठ के शब्दों में—

"...विद्यापति ने अपनी सूक्ष्मान्वेषी दृष्टि के द्वारा संयोग-पक्ष में भी आन्तरिक भावों के साथ ही बाह्य चेष्टाओं का सहयोग करके अपने काव्य को अमर बना दिया है।"[1]

वियोग-वर्णन

संयोग-सुख में डूबते-उतराते प्रेमी-प्रेमिकाओं का प्रेम जब शिथिल होने लगता है, तब उसे नवजीवन प्रदान करने के लिए वियोग अपेक्षित है। प्रेम-जगत् में विरह की सत्ता सनातन है। भिन्न-भिन्न मनीषियों ने भिन्न-भिन्न शब्दावलियों को ग्रहण करते हुए भी प्रेम-लोक में विरह की महानता को स्वीकार किया है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का मन्तव्य है—

"न विना विप्रलम्भेन संयोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागः प्रवर्त्तते॥"[2]

अर्थात् जिस प्रकार बिना पुट दिए वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता, उसी प्रकार विरह के बिना संयोग-सुख की प्राप्ति नहीं होती।

एक अन्य विद्वान् का कथन है—

"संगम विरह विकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।
सङ्गे सैव यथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥"

अर्थात् संयोग-वियोग की तुलना में संयोग की अपेक्षा विरह ही अधिक श्रेष्ठ है,

---

१. गीतिकार विद्यापति, पृष्ठ १५५.
२. साहित्यदर्पण, परिच्छेद ३

क्योंकि संयोग में जो प्रेमिका अकेली होती है, विरह में त्रिभुवन उसी प्रेमिका के रूप में परिणत हो जाता है।

कविकुल गुरु कालिदास का मत है कि वियोगावस्था में प्रेम का भोग न होने से वह राशीभूत हो जाता है—

"स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्तेत्वयोगा—
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशी भवन्ति ॥"[१]

इन सभी मन्तव्यों से यही परिणाम निकलता है कि वियोग प्रेम के लिए वह सुधा-रस है जो उसे विशद, व्यापक, अजर और अमर बना देता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी विप्रलंभ शृंगार की महत्ता लगभग इन्हीं अर्थों में स्वीकार की है। करुणप्रतिमा शेले का कहना है कि करुणतम कहानी की अभिव्यक्ति ही मधुरतम गीत है। इस प्रकार पौर्वात्य और पाश्चात्य सभी विद्वानों ने विरह की महानता को अंगीकार किया है। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी कहते हैं—

"वस्तुतः वियोग प्रेम के विस्तार के लिए बहुत बड़ा अवकाश निकाल लेता है। प्रेमी संयोगावस्था में चाहे वृक्षों और लताओं से प्रेम-निवेदन या प्रेम-कथन न करे, पर वियोगावस्था में जड़ पदार्थों से भी अपना प्रेम कहता फिरता है, उनसे भी मार्ग पूछता है।"[२]

वियोग ही में मानव जड़-चेतना का भेद-भाव भूलकर 'सर्वमय' बन जाता है। इससे अधिक व्यक्तित्व की व्यापकता और विशदता क्या हो सकती है?

चार प्रकार

विप्रलंभ शृंगार के चार प्रकार माने गये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। प्रिय का संयोग होने से पूर्व उसके गुण-श्रवण, दर्शनादि के कारण उससे मिलने की जो अभिलाषा होती है उसकी अपूर्ति के कारण जो तड़प या वेदना होती है, वही पूर्वराग है। अभिलाषा का प्राधान्य होने से इसे 'अभिलाष-हेतुक' भी कहा गया है। संयोग के पश्चात प्रेम की स्वाभाविक वृत्ति अथवा ईर्ष्या के कारण नायक-नायिका की पारस्परिक रुष्टता मान कहलाता है। मान का अपर नाम 'ईर्ष्या-हेतुक' भी है। पति के कार्यवश या किसी शाप-वश विदेश-वास को प्रवास कहते हैं। मृत्यु के पश्चात् भी जहां मिलने की आशा रहती है, वहां करुण होता है।

यदि इन चारों प्रकारों की तुलना की जाए तो प्रवास विप्रलंभ ही सबसे श्रेष्ठ सिद्ध होता है, क्योंकि पूर्वराग में उत्कट अभिलाषामात्र होने से वेदना के विस्तार का अधिक अवकाश नहीं होता; मान का क्षेत्र और भी अधिक संकुचित होता है, क्योंकि

१. मेघदूत, उत्तर भाग, पृष्ठ ४१
२. बिहारी, पृष्ठ १४२

मान में केवल वाणी का ही नियन्त्रण होता है, वैसे प्रेमी-प्रेमिका दूर नहीं होते। मौन उमंगों की झटपटाहट वेदना का अधिक आकार नहीं बन पातीं। करुण विप्रलंभ दैवी-व्यापारों पर आधृत है। अतः प्रवास ही ऐसा प्रकार है जिसमें वियोग की समस्त सामग्री का उपयोग करके वेदना के विस्तार को मनचाहा बढ़ाया जा सकता है।

तीनों प्रकार

विद्यापति की पदावली में करुण के अतिरिक्त अन्य तीनों प्रकार के विप्रलंभ श्रृंगार के वर्णन मिलते हैं। पूर्वराग में नायिका स्वप्न में देखे गये कृष्ण-सौन्दर्य द्वारा अपने ठगे जाने की बात कहती है—

"ए सखि पेखलि एक अपरूप।
सुनइत मानवि सपन सरूप॥
× × ×
ए सखि रंगिनि कहल निसान।
हेरइत पुनि मोर हरल गिआन॥"

मान का वर्णन भी पर्याप्त है। राधा रूठ गई है। कृष्ण उसके विरह में दुखी हैं। राधा की सखियाँ राधा से कृष्ण के विरह-दुख का वर्णन करती हुई कहती हैं—

"बिरह ब्याकुल बकुल तरुतर,
पेखल नन्दकुमार रे।
नील नीरज नयन सयँ सखि,
ढरइ नीर अपार रे।
पेखि मलयज-पङ्क मृगमद,
तामरस घनसार रे।
निज पानी-पल्लव मूंदि लोचन,
धरनि पड़ असंभार रे।"

तो राधा के विरह-दुख से कृष्ण को भी अवगत करती हैं—

"मधुकर डर धनि चम्पक-तरु तल,
लोचन जल भरिपूर।
सामर चिकुर हेरि मुकुट पटकल,
टूटि भए गेल सत चूर।
तुअ गुन-गाम कहए सुक पंडित,
सुनतहि उठल रोसाइ।
पिंजर झटकि-फटकि पर पटकत,
धाए धएल तहि जाइ।"

क्योंकि सयोग मे जो प्रेमिका अकेली होती है, विरह मे त्रिभुवन उसी प्रेमिका के रूप में परिणत हो जाता है।

कविकुल गुरु कालिदास का मत है कि वियोगावस्था मे प्रेम का भोग न होने से वह राशीभूत हो जाता है—

"स्नेहानाहु: किमपि विरहे ध्वसिनस्तेत्वयोगा—
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशी भवन्ति ॥"[1]

इन सभी मन्तव्यो से यही परिणाम निकलता है कि वियोग प्रेम के लिए वह सुधा-रस है जो उसे विशद, व्यापक, अजर और अमर बना देता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी विप्रलभ शृगार की महत्ता लगभग इन्हीं शब्दों मे स्वीकार की है। करुणप्रतिमा शेले का कहना है कि करुणतम कहानी की अभिव्यक्ति ही मधुरतम गीत हैं। इस प्रकार पौर्वात्य और पाश्चात्य सभी विद्वानो ने विरह की महानता को अंगीकार किया है। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी कहते हैं—

"वस्तुतः वियोग प्रेम के विस्तार के लिए बहुत बड़ा अवकाश निकाल लेता है। प्रेमी संयोगावस्था में चाहे वृक्षों और लताओं से प्रेम-निवेदन या प्रेम-कथन न करे, पर वियोगावस्था में जड़ पदार्थों से भी अपना प्रेम कहता फिरता है, उनसे भी मार्ग पूछता है।"[2]

वियोग ही मे मानव जड़-चेतना का भेद-भाव भूलकर 'सर्वमय' बन जाता है। इससे अधिक व्यक्तित्व की व्यापकता और विशदता क्या हो सकती है ?

चार प्रकार

विप्रलभ शृगार के चार प्रकार माने गये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। प्रिय का सयोग होने से पूर्व उसके गुण-श्रवण, दर्शनादि के कारण उससे मिलने की जो अभिलाषा होती है उसकी अपूर्ति के कारण जो तड़प या वेदना होती है, वही पूर्वराग है। अभिलाषा का प्राधान्य होने से इसे 'अभिलाष-हेतुक' भी कहा गया है। सयोग के पश्चात प्रेम की स्वाभाविक वृत्ति अथवा ईर्ष्या के कारण नायक-नायिका की पारस्परिक रुष्टता मान कहलाता है। मान का अपर नाम 'ईर्ष्या-हेतुक' भी है। पति के कार्यवश या किसी शाप-वश विदेश-वास को प्रवास कहते हैं। मृत्यु के पश्चात् भी जहा मिलने की आशा रहती है, वहा करुण होता है।

यदि इन चारो प्रकारो की तुलना की जाए तो प्रवास विप्रलभ ही सबसे श्रेष्ठ सिद्ध होता है, क्योकि पूर्वराग मे उत्कट अभिलाषामात्र होने से वेदना के विस्तार का अधिक अवकाश नहीं होता; मान का क्षेत्र और भी अधिक सकुचित होता है, क्योंकि

१. मेघदूत, उत्तर भाग, पृष्ठ ४८
२. बिहारी, पृष्ठ १४२

मान में केवल वाणी का ही नियन्त्रण होता है, वैसे प्रेमी-प्रेमिका दूर नहीं होते। मौन उमंगों की झटपटाहट वेदना का अधिक आकार नहीं बन पातीं। करुण विप्रलंभ दैवी-व्यापारों पर आवृत है। अतः प्रवास ही ऐसा प्रकार है जिसमें वियोग की समस्त सामग्री का उपयोग करके वेदना के विस्तार को मनचाहा बढ़ाया जा सकता है।

तीनों प्रकार

विद्यापति की पदावली में करुण के अतिरिक्त अन्य तीनों प्रकार के विप्रलंभ शृंगार के वर्णन मिलते हैं। पूर्वराग में नायिका स्वप्न में देखे गये कृष्ण-सौन्दर्य द्वारा अपने ठगे जाने की बात कहती है—

"ए सखि पेखलि एक अपरूप।
सुनइत मानबि सपन सरूप॥
× × ×
ए सखि रंगिनि कहल निसान।
हेरइत पुनि मोर हरल गिआन॥"

मान का वर्णन भी पर्याप्त है। राधा रूठ गई है। कृष्ण उसके विरह में दुखी हैं। राधा की सखियां राधा से कृष्ण के विरह-दुख का वर्णन करती हुई कहती हैं—

"विरह व्याकुल वकुल तरुतर,
पेखल नन्दकुमार रे।
नील नीरज नयन सयँ सखि,
ढरइ नीर अपार रे।
पेखि मलयज-पङ्क मृगमद,
तामरस घनसार रे।
निज पानी-पल्लव मूँदि लोचन,
धरनि पड़ असंभार रे।"

तो राधा के विरह-दुख से कृष्ण को भी अवगत करती हैं—

"मधुकर डर धनि चम्पक-तरु तल,
लोचन जल भरिपूर।
सामर चिकुर हेरि मुकुट पटकल,
टूटि भए गेल सत चूर।
तुअ गुन-गाम कहए सुक पंडित,
सुनतहि उठल रोसाइ।
पिंजर झटकि-फटकि पर पटकत,
धाए धएल तहि जाइ।"

विद्यापति का विरह उभयपक्षी है। इसमें दोनों ओर आग लगी हुई है। पतंग के साथ दीपक भी जलता है। नायक और नायिका दोनों मान भी करते हैं और तज्जन्य दुख से दुखी भी होते हैं। जिस प्रकार सम-प्रेम विषम-प्रेम की अपेक्षा अधिक गहन और बंधन मुक्त होता है, उसी प्रकार सम-विरह भी अधिक प्रभावपूर्ण होता है। यही विद्यापति के शृंगाररस-वर्णन की एक प्रमुख विशेषता है।

विद्यापति का प्रवास-विप्रलंभ-वर्णन अपेक्षाकृत अधिक मार्मिक है। कृष्ण विदेश जा रहे हैं। राधा को जब इस समाचार का पता चलता है तो वह उन्हें रोकना तो चाहती है पर लज्जावश स्वयं नहीं कह पाती। वह अपनी सखी से सिफारिश करती है—

"सखि हे बालम जितब विदेस।
हम कुलकामिनि कहइत अनुचित
तोहहु दे हुनि उपदेस।
ई न विदेसक बेलि॥"

इससे भी उसे सन्तोष नहीं होता। "कुलकामिनि" के बंधनों को तोड़कर वह स्वयं ही कृष्ण से कह बैठती है—

"माधव ! तोहे जनु जाइ विदेस।
हमरो रंग रभस लए जएबह,
लएबह कोन संदेस॥"

कृष्ण के साथ ही उसके आमोद-प्रमोद चले जायेंगे, यह तो ठीक है, पर राधा को इससे भी अधिक चिन्ता यह है कि वे विदेश जाकर उसे भूल जाएंगे तथा और किसी अन्य के हो जाएंगे—

"बनहि गमन कर होएति दोसर मति,
बिसरि जाएब पति मोरा।"

रमणी के शंकालु हृदय की कितनी यथार्थ अभिव्यक्ति है ! रूप-गुण से परिपूर्ण पति के विषय में ऐसी आशंका होना अत्यंत ही स्वाभाविक है। पर एक दिन कृष्ण उसे सोती छोड़कर चले ही गये। चकवा का जोड़ा बिछुड़ ही गया—

"एक सयन सखि सूतल रे,
आछल बालम निसि मोर।
न जानल कति खन तेजि गेल रे,
बिछुरल चकेवा जोर।"

एक ही पलंग पर से अपनी प्रिया को सोती छोड़कर चुपचाप उठकर चला जाने वाला प्रिय न जाने उसके कितने स्वर्णिम सपनों को मसल जाता है। उसकी सबसे बड़ी वेदना का मूल कारण तो यही होता है कि वह जाते समय प्रिय से कुछ कह भी न

सकी। कम से कम उससे लौटने की अवधि तो रखवा ही लेती और आशा के संबल पर उस अवधि को काटती, भले ही उसे तिल-तिल करके गलना पड़ता। राधा का विरह-दुख उद्दीप्त हो उठा। सर्वप्रथम उसकी दृष्टि रूप-यौवन से भरपूर अपने शरीर की ओर गई। बिना प्रिय के अब उसका मूल्य ही क्या रह गया था—

"सरसिज बिनु सर, सर बिनु सरसिज
की सरसिज बिनु सूरे।
जौवन बिनु तन, तन बिनु जौवन
की जौवन पिय दूरे।"

कुछ आलोचकों की दृष्टि में राधा का यह कथन अच्छा नहीं है। उन्हें इसमें काम-वासना की गंध आती है। आदर्श के पंखों पर चढ़कर चाहे कितना ही गगन-विहारी बन लिया जाय, किन्तु यथार्थ के धरातल पर खड़े होकर राधा का यह कथन अनुचित नहीं कहा जा सकता। इसमें विरहिणी युवती के हृदय का अनावृत चित्रण है। उसका यह समझना कि उसका रूप-यौवन भी उसके प्रिय के वशीभूत होने का एक प्रमुख कारण है, गलत नहीं है। यौवन की सार्थकता भी तो यही है। प्रिय के बिना वह है ही कितनी कौड़ी का। यौवन के बीतने पर यदि प्रिय से मिलन भी हुआ तो क्या लाभ ? बहार बीत जाने पर यदि 'गुलशन में बुलबुल का तराना' अनसुना कर दिया जाए तो क्या आश्चर्य ? राधा इसी भाव-भूमि पर खड़ी होकर सोचती है—

"अंकुर तपन-ताप जदि जारब
कि करब बारिद मेहे।
ई नव जौबन बिरह गमाएब
कि करब से पिआ-नेहे।"

इन्हीं बातों को सोचकर राधा का हृदय फूट पड़ता है, उसकी विरहाग्नि में धृताहुति पड़ जाती है। कभी-कभी स्वप्न में मिलन हो जाता था, पर नींद भी ऐसी गई कि फिर आई ही नहीं। विधाता को यह स्वप्न-मिलन भी न रुचा। अब तो सिवाय अवधि के दिन गिनने के राधा के पास और कुछ चारा ही न रह गया—

"सखि मोर पिया।
अबहु न आओल कुलिस-हिया।
नखर खोआओलुं दिवस लिखि-लिखि।
नयन अधाओलुं पिया - पथ देखि।"

राधा के इन शब्दों में कितनी मार्मिकता है, अपनी विवश एवं दयनीय दशा का कितना मर्मस्पर्शी चित्रण है ! प्रियागमन की अवधि को गिनते-गिनते नाखून घिस गए, प्रिय-पथ को देखते-देखते आँखें ज्योति-शून्य हो गईं, पर वह निष्ठुर नहीं लौटा। 'कुलिस-हिया' में अपनत्व की कैसी अभूतपूर्व भावना है।

विरह के समय संयोग की बीती बातों का स्मरण स्वाभाविक ही है। राधा को भी वे दिन याद आ ही गए जब कृष्ण उसके अपरिपक्व यौवन के पकने की प्रतीक्षा में थे। जब उनकी प्रतीक्षा पूर्ण हुई तो वे छोड़कर चले गये। यही स्मृति राधा को झिकझोर देती है—

"आस क लता अगाओल सजनी
नयन क नीर पराय।
से फल अब तरुनत भेल सजनी
आँचर तर न समाय।"

विरहिणी का हृदय अत्यन्त शंकालु हो जाता है। कभी वह प्रिय की गति-विधियों पर ननु-नच करती है तो कभी स्वयं में गलती खोजने लगती है। ठीक यही दशा राधा की भी है। उसे शंका है कि कहीं उसका रूप-यौवन तो क्षीण नहीं हो गया जिससे उसमें प्रिय को बाँधने की शक्ति ही न रह गई हो और वे ठुकराकर चले गये—

"जौवन रूप अछल दिन चारि।
से देखि आदर कएल मुरारि।।"

और अब—

"धनिक क आदर सब तहँ होय।
निरधन बापुर पुछय न कोय।"

प्रिय चाहे कितना ही निष्ठुर क्यों न हो, प्रिया की सद्भावनाएं सदैव उसके साथ रहती हैं। उसकी मधुरतम साध यही होती है कि वे जहां भी रहें, कुशल रहें। यही प्रेम की महत्ता है जो दुत्कारे जाने पर भी प्रतिकार की भावना से दूर रहता है। निरादृत युवतियों का अपने प्रेमियों की जवानियों की खैर मनाना केवल वाणी का ही व्यापार नहीं, निष्कपट और भाव-भरे हृदय की सच्ची पुकार होती है। राधा भी अपने प्रिय की कुशल-कामना करती हुई कहती है—

"माधव हमर रहल दुर देस।
केओ न कहइ सखि कुसल-सनेस।
युग-युग जीवथु वसथु लाख कोस।
हमर अभाग हुनक नहि दोस।
हमर करम भेल बिहि बिपरीत।
तेजलनि माधव पुरुबिल पिरीत।"

विद्यापति की राधा को केवल काम-पुत्तलिका समझने वालों के लिए यह करारा जवाब है।

प्रकृति का उद्दीपन रूप

प्रकृति विरहिणी के साथ कभी सहानुभूति नहीं दिखाती। वह अपने रूप

परिवर्तित करके उसकी वेदना को उद्दीप्त करती रहती है। राधा के साथ भी यही हुआ। भादों का महीना आया। आकाश पर घुमड़-घुमड़कर घन मंडराने लगे। राधा का विरह उसके कोमलहृदय को कचौंटने लगा—

"सखि हे हमर दुख क नहि ओर।
ई भर बादर माह भादर सून मन्दिर मोर।"

यही नहीं, प्रिय-विहीन शून्य मंदिर में मेंढ़क और डाहुक के शब्दों से उसको भारी आघात पहुंचता है। सावन के महीने में जब समस्त वसुंधरा जल से भरकर उन्मत्त हो उठती है तब विरहिणी राधा अपने सूनेपन को याद करके फूट पड़ती है—

"पंचसर-सर छुटत रे कइसे
जीग्रए विरहिन नारि ?"

और माधव मास ! यह तो विरहिणियों का चिरपरिचित रिपु ही है। प्रकृति अपने वैभव से पूरी तरह सजकर मदोन्मत्त हो नृत्य करने लगती है। इस वातावरण को घायल हृदय कैसे सह सकता है ?

राधा को दुख केवल इतना है कि ऐसा वातावरण देखकर भी वह जीवित है—

"ई सुख समय सहए एत संकट
अबला कठिन पराने रे।"

इसी प्रकार एक के बाद दूसरा, बारह महीने आते और चले जाते हैं। राधा का विरह दिन दूना और रात चौगुना होता रहता है। अन्त में, उसकी दशा का वर्णन देखिए—

"सरदक ससधर मुखरुचि सोंपलक
हरिन के लोचन-लीला।
केसपास लए चमरि के सोंपलक
पाए मनोभव पीला।
माधव ! जानल न जीवति राही।"

जिसने अपने मुख की कांति शारदीय चन्द्रमा को सौंप दी हो, नेत्रों की चंचलता हरिणों को दे दी हो, केश-विन्यास चमरी गाय को अर्पित कर दिया हो, उसके जीवित रहने की क्या आशा हो सकती है ? ऐसा ही भाव कालिदास के मेघदूत में भी है—

"आशाबन्धः कुसुम सदृशं प्रायशोऽह्यङ्गनानाम्।
सद्यः पाति प्रणमि हृदयं विप्रभोगे रुणद्धि।।"

अब तो राधा राधा नहीं रह गई। अपना अस्तित्व वह कृष्ण में समाविष्ट करके कृष्णमय ही बन गई है—

"अनुखन माधव माधव सुमरइत
सुन्दरि भेल मधाई।

> ओ निज भाव सुभावहि बिसरल
> अपने गुन लुबुधाई।"

यही प्रेम-साधना की चरम सीमा है जहां प्रिया और प्रियतम का भेद सर्वथा तिरोहित हो जाता है, वे तदाकार बन जाते हैं। वही भोली राधा जो स्त्रियोचित विश्वास का अचल पकड़कर प्रियागम का संदेश लाने वाले काग को कनक कटोर में खीर देने का वचन देती है—

> "काक भाख निज भाखह रे
> पिय आओत मोरा।
> खीर खीर भोजन देव रे
> भरि कनक कटोरा।"

अन्त में स्वयं ही प्रियतम बन गई। यही प्रेम-पथ की वह सीमा है जहां से आगे कोई राह ही नहीं रहती।

कहीं-कहीं विद्यापति ने विरह-वर्णन में ऊहात्मक पद्धति को भी अपनाया है। यथा—

> "नील नलिनि लए जंब कर बाए,
> हृदय रहए भय उडि जनु जाए।"

नीले कमल से राधा को शीतलता प्रदान करने के लिए हवा करती हुई सखियों को भय है कि कहीं वह हवा से उड न जाए, परन्तु जब राधा दर्पण में अपना मुख देखकर और उसे चन्द्रमा समझकर उसकी तपन से संज्ञा-शून्य हो ही जाती है तो बेचारी सखियां क्या करें—

> "मनिमय मुकुर देखि पुनि निज मुख
> चान भरम मुरझाय।"

लेकिन इस प्रकार के वर्णन बहुत कम हैं। इस पद्धति के लिए विद्यापति की मर्मज्ञता को चुनौती नहीं दी जा सकती, क्योंकि संस्कृत की यह एक लम्बी परम्परा है जिसमें विद्यापति भी यदा-कदा बह गए हैं। ऐसे कुछ स्थलों को छोड़कर विद्यापति का विरह-वर्णन सर्वत्र सहज, स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक, प्रभावपूर्ण और कवित्वमय है।

दस अवस्थाएं

भारतीय काव्यशास्त्र में विरह की दस अवस्थाएं मानी गई हैं—स्मरण, गुण-कथन, अभिलाषा, मूर्छा, व्याधि, उद्वेग, प्रलाप, जडता, उन्माद और मरण। विद्यापति ने अपने विरह-वर्णन में इन दसों अवस्थाओं का वर्णन अत्यन्त सफलतापूर्वक किया है। यथा—

स्मृति—

"मोहन मधुपुर वास रे, हमहुँ जायब तनि पास रे।
भल लनि कुबजा के नेह रे, तजलनि हमरो सनेह रे॥"

गुण-कथन—

"पहिले पिया मोर सुख मुख हेरि हेरि तिलयक छोड़लन अङ्ग।
अपरुब प्रेम-पास तनु गांथल, अब तेजल मोर सङ्ग।"

अभिलाषा—

"कत दिन पिय मोर पुछब बात, कवहु पयोधर देहब हाथ।
कत दिन लेइ बैठाइब कोर, कत दिन मनोरथ पूरन मोर।"

मूर्च्छा—

"सो रामा हे! सो किय बिछुरन जाय,
कर धरि माथुर अनुमति मांगलि ततहि पड़लि मुरछाय।
नहिं वहे नयन क नीर,
मुरछि पड़े तट-तीर?"

व्याधि—

"कि कहब सुन्दरि तोहर कहिनी
कहहि न पारिअ देखल जहिनी
अनिल अनल समल मलअज बोख
जे छल सीतल से भेला तीख
चाँद सतावय सवितahु जीनि
नहिं जीवन एकमत भेला तीनि
किछु उपचार न मानब आन
एही बेआधि अधिक पंचबान॥"

उद्वेग—

"सजनी के कह आओब मधाई।
विरह पयोधि पार किए पाओब
मझु मन नहिं पति आई।
एखन-तखन करि दिवस गमाओल
छोड़लूँ जीवन आसा।
वरस वरस कर समय गमाओल
खोयलूँ कानुक आसा।"

प्रलाप—

"पिय यदि तेजल सोलह सिंगार सब
यमुन सलिल सब डार रे।
सीस के सेंदुर सजनी दुर कए
पिय बिन सकल निसार रे।"

उन्माद—

"अनुखन माधव माधव सुमरत
सुन्दरि भेलि मधाई।"

मरण—

"मधुपुर गेल भगवान रे।
तुन बिन त्यागब प्रान रे।"

विद्यापति का विरह-वर्णन उभयपक्षी है। राधा कृष्ण के वियोग मे दुखी है तो कृष्ण राधा के। राधा के विरह का समाचार सुनकर वे एकदम मूर्च्छित हो जाते हैं। वे संदेश देते हैं—

"दुइ एक दिवस निचय हम जाओब
दुहु परबोध बिराई।"

और इस संदेश के पश्चात् ही वे अपना दुःख दूती को सुनाने लग जाते हैं—

"तिल एक सयन ओत जिउ न सहए
न रहए दुहु तनु भीन।
माझे पुलक गिरि अन्तर मानिए
अइसन रह निसि-दीन।"

विद्यापति का उभयपक्षी विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य मे अपनी ही एक प्रमुख विशेषता है। विरह के पदो के कारण ही ये वैष्णव-भक्तो से समादृत हुए और इन्हीं के कारण इनका इतना महत्त्व बढा। डा० रामरतन भटनागर विद्यापति के विरह-वर्णन की उत्कृष्टता पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

"विद्यापति संयोग शृंगार मे जहाँ अत्यन्त उत्कृष्ट कवि के रूप मे आते हैं, वहाँ विप्रलम्भ शृंगार मे उससे भी अधिक बढे हैं ...यही वे स्थल हैं जिनके कारण विद्यापति वैष्णव-कवियों को ग्राह्य हुए, नहीं तो उनके संयोग-शृंगार की गर्हित भावनाओं ने उन्हे सदा के लिए लांछित कर दिया था।"[1]

विद्यापति के विरह-वर्णन मे सभी अपेक्षित विशेषताएं उपलब्ध होती हैं। राधा की मनोभावनाओ का चित्रण अत्यन्त सहज, स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। पाण्डित्य

१. विद्यापति, पृष्ठ २६

प्रदर्शन के मोह में कहीं-कहीं ऊहात्मक वर्णन तथा दृष्टिकूट अवश्य आ गए हैं, पर इनकी संख्या अधिक नहीं। विरहिणी की जितनी भी अन्तर्दशाएं और भाव हो सकते हैं, वे सभी इनके विरह-वर्णन में मिल जाते हैं। शास्त्रीय निकष पर भी इनका विरह-वर्णन खरा ही उतरता है।

तुलना

विद्यापति के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य में और दो महाकवि हैं जो अपने वियोग-वर्णन के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। एक हैं जायसी, और दूसरे हैं सूरदास। अतः इनके साथ विद्यापति की तुलना अनिवार्य ही प्रतीत होती है।

जायसी

जायसी का 'नागमती का विरह-वर्णन' हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। विद्यापति की राधा और जायसी की नागमती दोनों ही स्वकीया हैं और अपने प्रियतमों के प्रेम में विभोर हैं। विरह में दोनों ही सूख गई हैं। यदि राधा कातरदृष्टि से चारों ओर देख-देखकर अश्रुपात करती रहती है और विरह में अपने तन को क्षीण बना रही है—

"कातर दिठि करि चौदिसि हेरि हेरि
नैन गरए जलधारा।
तोहर बिरह दिन छन-छन तनु छिन
चौदसि चांद समान।"

तो नागमती के शरीर का रक्त भी विरहाग्नि में जला है—

"रकत न रहा बिरह तन जरा।
रती रती होइ नैनन्ह ढरा।"[१]

यही नहीं, उसके सब हाड़ किंकरी और सभी नसें तांत बन गई हैं। जायसी के इस वर्णन में अत्युक्ति तो है, पर भाव की गम्भीरता का हनन नहीं। इस प्रकार के वर्णनों का कारण यह है कि जायसी फारस-पद्धति से प्रभावित थे और विद्यापति भारतीय पद्धति के आराधक थे।

नागमती और राधा दोनों के हृदयों का विस्तार हुआ है। मानव-समाज के अतिरिक्त उनकी दृष्टि पक्षी-वर्ग पर भी गई है। नागमती कौआ और भौंरा के द्वारा अपने विरह का संदेश अपने प्रियतम तक पहुंचाना चाहती है—

"पिउ सों कहउ संदेसड़ा हे भौंरा हे काग।
उहि धनि विरहै जरि मुई तेहिक धुआं हम लाग।"[२]

---

१. जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३५६
२. जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३४८

राधा कौए के द्वारा अपने प्रियतम का संदेश प्राप्त करना चाहती है—

"काक भाख निज भाषहु रे
पिय आओत मोरा।
क्षीर खीर भोजन देव रे
भरि कनक कटोरा।"

पक्षी-वर्ग से काम लेने के दोनों के प्रयोजन भिन्न-भिन्न हैं। नागमती संदेश भेजना चाहती है और राधा प्राप्त करना। यदि नागमती के शब्दों में विरह-व्यथा का अथाह सागर समाहित है तो राधा के वचनों में भोले नारी-हृदय का विश्वास बोल रहा है। दोनों के पति अन्य नारियों के चंगुल में हैं। नागमती पद्मावती से परिचित है और राधा कुब्जा से। ये समान परिस्थितियाँ भी दोनों के मनोभावों पर समान ही प्रभाव डालती हैं। नागमती पद्मावती के लिए केवल इतना-सा संदेश भेजना चाहती है कि तुम दूसरे के पति को बाहुपाश में बाँधे हुए हो, और राधा केवल इतना कि हे कुब्जा! तुम दूसरे के धन से धनवती बनी हुई हो। इन दोनों संदेशों में नागमती और राधा के संयम का पता चलता है। ऐसी परिस्थितियों में नारी का संयम साधारण बात नहीं है।

प्रकृति का उद्दीपन रूप में दोनों कवियों ने वर्णन किया है। अषाढ़ की वर्षा में नागमती और राधा दोनों दुःखी हैं। नागमती कहती है—

'पुष्य नखत सिर ऊपर आवा
हौं बिनु नाह मंदिर को छावा॥'[1]

तो अकेली राधा को अपने शून्य मंदिर में डर लगता है—

"सखि हे हमर दुखक नहि ओर।
ई भर बादर माह भादर
सून मंदिर मोर॥"

इन दोनों वर्णनों की तुलना करने पर कहा जा सकता है कि नागमती के शब्दों में सलज्जा विरहिणी का हृदय बोल रहा है। वह अपने विरह की बात न कहकर मंदिर के छाने की बात कहती है और राधा प्रत्यक्ष अपने विरह का निवेदन करती है। अतः यहाँ नागमती के शब्दों में अधिक प्रभाव है। वैसे भी, 'मंदिर छावा' कहकर जायसी ने नागमती को एक सामान्य नारी के रूप में जिस भाव-भूमि पर लाकर खड़ा कर दिया है, विद्यापती इस मर्म को न पहचान सके। यही कारण है कि नागमती का विरह विशद है और राधा का एकांगी। राधा अपने ही व्यक्तित्व में सिमटी हुई है, नागमती की भाँति उसकी दृष्टि में लोक-पक्ष नहीं।

बारहमासा का वर्णन दोनों ही कवियों ने एक ही प्रयोजन से किया है, किन्तु प्रकृति के साथ तादात्म्य भावनाओं का उद्घाटन जायसी अधिक सफलता से कर

---

१. जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३४२

सके हैं। उदाहरणार्थ फाल्गुन मास का वर्णन देखिए—

जायसी—

"फागुन पवन झकोरा बहा।
चौगुन सीउ जाइ नहिं सहा॥
तन जस पियर पात भा मोरा।
तेहि पर बिरह देहि झकझोरा॥"[1]

विद्यापति—

"फागुन मास धनि जीब उचाट॥
बिरह-बिखिन भेल हेरम्रो बाट॥
आयल मत्त पिक पंचम गाव।
से सुनि कामिनी जीवहु सताव॥"

इन दोनों वर्णनों के तुलनात्मक अध्ययन से यह परिणाम निकलता है कि जायसी का वर्णन अधिक प्रभावशाली है। फागुन के महीने में पत्ते पीले हो जाते हैं और तनिक-सा आघात लगने से ही झड़ पड़ते हैं। यदि उस पत्ते को झिकझोरा जाए तो उसकी क्या अवस्था होगी? यही कि उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। ठीक ऐसी ही दशा नागमती की है। शरीर तो पहले ही पीला पड़ा हुआ है, इस पर विरह के ज़बर-दस्त धक्के। प्रकृति के माध्यम से जायसी ने विरहिणी की दशा का कितना सफल और प्रभावोत्पादक वर्णन किया है!

अब विद्यापति का वर्णन देखिए। राधा कहती है कि फागुन का महीना नवयुवतियों के प्राणों में उचाट भरने वाला होता है। मैं विरह से क्षीण होकर प्रिय की राह देख रही हूं। मत्त कोयल पंचम स्वर में गा रही है जिसे सुनकर कामिनियों के जीवन संकट में पड़ गए हैं।

यह वर्णन बिलकुल सीधा है। कवि सारी बातें स्वयं कह गया है। पाठक को सोचने की आवश्यकता नहीं। अतः इस वर्णन में प्रभावोत्पादकता नहीं। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि विद्यापति सर्वत्र ही असफल रहे हैं। एक मुक्तककार के नाते तो यह पद भी सफल ही कहा जा सकता है, क्योंकि अपने सीमित क्षेत्र में विद्यापति इतने संक्षिप्त रूप में इससे अधिक कह भी क्या सकते थे। हां, महाकाव्यकार जायसी की तुलना में अवश्य हल्के पड़ गए हैं। श्री रामवाशिष्ठ का यह कथन सही है—

"विद्यापति मुक्तक रचना के कारण अपनी भावनाओं को उतनी व्यापकता नहीं दे सके जितनी कि जायसी दे सके। इसलिए यह कहना ही अधिक उचित होगा कि जायसी ने नागमती की वेदना को एक विस्तृत और व्यापक क्षेत्र में देखा, किन्तु

---

१. जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ २५०

विद्यापति ने मुक्तक के कलेवर में ही राधा के हृदय-सागर से अनेकों रत्न खोज निकाले।"[1]

तथापि अपने अपने क्षेत्रो मे दोनो कवि सफल हैं।

सूरदास——

विद्यापति और सूर दोनो ने ही राधा-कृष्ण का विरह-वर्णन किया है और दोनो ही मुक्तककार हैं। लेकिन अपने सीमित क्षेत्र में भी सूर ने विरह की जिस व्यापकता का प्रदर्शन किया है, विद्यापति मे उसका अभाव है। विद्यापति की दृष्टि केवल विरहिणी राधा तक ही आबद्ध रही है, जबकि सूर ने समूचे व्रज को उसमे डुबो दिया है।

सूर ने वात्सल्य को भी विरह के अन्तर्गत लिया है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर नन्द और यशोदा अत्यन्त दुखी हो जाते हैं। नन्द यशोदा के सिर पर दोषारोपण करते हैं तो यशोदा नन्द के। इन दम्पत्तियो के शब्दो मे अत्यन्त सरलता के साथ सूर ने इनके हृदयो की मार्मिक व्यथा का सजीव चित्रण कर दिया है। यशोदा नन्द से कहती है——

"छाँड़ि सनेह चले मथुरा कत दौरि न चीर गह्यो।
फाटि न गई वज्र की छाती कत यह सूल सह्यो।"[2]

तो नन्द भी इसी प्रकार का उत्तर देते हैं——

"तब तू मारिबोही करति।
रिसनि आगे कहै जो आवत, अब लै भांड़े भरति।
रोस कै करि दांवरी लै फिरति घर घर घरति।
कठिन हिय करि तब जो बांध्यो अब वृथा करि परति।।"[3]

दम्पत्ति के इन सम्वादो मे पुत्र-वियोग का असह्य दुख मुखरित हो उठा है।

सूर ने व्रज के कुज, कुटीर, कछार और यमुना तट आदि सभी को अपने विरह में स्थान दिया है। कृष्ण के बिना सम्पूर्ण व्रज सूना दिखाई देता है और काट खाने को दौडता है। जिन कुजो मे कृष्ण रास लीला किया करते थे, वे भयावने लगते हैं और यमुना तो कृष्ण-विरह के दुख मे जलकर काली ही पड़ गई है। गोएं पागल-सी हो इधर-उधर दौडती हैं और बार-बार उन्ही स्थानो पर आकर खडी हो जाती हैं जहां कृष्ण उन्हे दुहा करते थे। उनके वत्सों की भी यही दशा है। इस प्रकार सूर ने अपने विरह-वर्णन को अधिक व्यापक और प्रभावशाली बना दिया है।

विद्यापति ने अपना वर्णन राधा तक ही सीमित रक्खा है। बहुत हुआ तो यह कह दिया——

१. गीतिकार विद्यापति, पृष्ठ ७८
२. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृष्ठ ११७१
३. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृष्ठ १२३२

७ "हरि मथुरापुर गेल आज गोकुल सून भेल।
रोदति पिंजर सुके धेनु धाइब मथुरा मुखे।
अब सोइ जमुना कूले गोप-गोपी नहिं बूले।"

लेकिन ये ही वर्णन सूर की भावधारा में मिलकर अत्यधिक सजीव और प्रभावपूर्ण बन गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यापति ने केवल विरह की व्यापकता दिखाने के लिए ही इन पंक्तियों को गढ़ दिया, हृदय ने उन्हें कोई सहयोग नहीं दिया।

प्रकृति का दोनों कवियों ने उद्दीपन रूप में वर्णन किया है। आकाश में उमड़ते और फटते बादलों को देखकर विरहिणी की व्यथा असीम हो जाती है। विद्यापति की राधा कहती है—

"झंपि घन गरजंति संतत
भुवन भरि बरसंतिया।
कन्त पाहुन काम दारुन
सघन खर सर हंतिया॥
कुलिस कत सत पात मुदित
मयूर नाचत मातिया।
मत्त दादुर डाक डाहुक
फाटि जायत छातिया॥"

सूर की विरहिणी भी इस परिस्थिति में व्याकुल हो उठती है—

"देखियत चहुँ दिसि ते घन घोरे।
मानो मत्त मदन के हथियन बल करि बन्धन तोरे।
कारे तन अति चुवत गंड मद बरसत थोरे-थोरे।
रुकत न पवन महावत हूं पै मुरत न अंकुस मोरे।"[1]

वर्षा के समान ही विद्यापति की विरहिणी के नेत्र हैं—

"विपत अपत तरु पाओल रे पुन नव-नव पात।
विरहिन नयन विहल विहि रे अविरल बरसात।
सखि अन्तर विरहानल रे नित बाढ़ल जाय।
विनु हरि लख उपचारहु रे हिय दुख न मिटाय॥"

विद्यापति की राधा कहती है कि विधि ने विरहिणी के नेत्रों को अविरल बरसने के लिए ही बनाया है, किन्तु सूर की विरहिणी पर तो सदा पावस ऋतु बनी रहती है—

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पृष्ठ १३८०.

"निसदिन बरसत नैन हमारे ।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर जब ते स्याम सिधारे ।"[1]

और यदि ऐसे नयनों से घन हार जायें तो आश्चर्य ही क्या ? बिना ऋतु बरसने वालों से ऋतु में बरसने वाला घन कैसे समानता कर सकता है ? निःसन्देह, सूर ने प्रकृति के माध्यम से जिन भावों का सृजन किया है, वे विद्यापति के काव्य में अप्राप्य हैं। सूर के हृदय से जो धारा बह निकलती है, विद्यापति का हृदय उससे अनजान है।

विद्यापति और सूर दोनों ने कृष्ण के विरह का भी वर्णन किया है। विद्यापति के कृष्ण दूती से अपनी व्यथा कहते हैं—

"कठिन कलेवर तेईं चलि आओल
चित्त रहलि सोइ ठामा।
से बिनु राति दिवस नहि भावए
ताहि रहल मन लागी।
आन रमनि सयँ राज सम्पद माय
आछिए जइसे बिरागी।।"

तो सूर के कृष्ण उद्धव को अपनी वेदना सुनाते हैं—

"ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दर कगरी और कुंजन की छाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कोलाहल नाचत गहि-गहि बाहीं।।"[1]

बातें दोनों कवियों की एक ही हैं, परन्तु सूर के वर्णन में सजीवता अपेक्षाकृत अधिक है।

सूर और विद्यापति दोनों ही सफल महाकवि हैं। उन्होंने वियोग की सम्पूर्ण अवस्थाओं को अपने काव्य में चित्रित किया। दोनों ने ही हृदय की अनेक दशाओं को देखा, भावों की गहराई को बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से अभिव्यक्त किया, वेदना की कसक को विरहिणी के शब्द-शब्द में निमृत किया, किन्तु सूर का क्षेत्र व्यापक होने के कारण तथा पुष्टिमार्गी भक्ति के प्रचारक होने के कारण उन्होंने विरह की मर्म-व्यथा को अधिक सामान्य भावभूमि पर लाकर परखा। विद्यापति ने अपनी सीमित परिधि में रहकर भी मानवीय भावनाओं की अदोष और सहज अभिव्यक्ति की।

अतः कहा जा सकता है कि शास्त्रीय दृष्टि से भी, मनोवैज्ञानिक निकष से भी और काव्यात्मकता की कसौटी से भी विद्यापति का विरह-वर्णन साङ्ग तथा सफल है।

१- सूरसागर, दशम स्कंध, पृष्ठ १६४८

: ६ :

विद्यापति का मुक्तक काव्य

विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से श्रव्य काव्य के दो भेद किए जा सकते हैं—प्रबंध और मुक्तक। प्रबंधकाव्य में विषय की समग्रता होती है, उसके खंड-चित्र कथा के तन्तुओं से आबद्ध होकर परस्पर संबद्ध होते हैं, इसीलिए उसमें नीरस स्थलों के खप जाने की भी गुंजायश होती है। मुक्तक काव्य में विषय के किसी एक खंड का चित्रण होता है जो अपने में स्वतः पूर्ण होता है। कथा का अभाव होने के कारण यहां नीरस स्थलों के खप जाने की गुंजायश नहीं होती।

अतः मुक्तककार को ऐसे पदों अथवा श्लोकों की रचना करनी पड़ती है जो अपने अर्थ में स्वतः पूर्ण भी होते हैं और चमत्कार-विधायक भी। इसीलिए अग्निपुराण में मुक्तक की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

"मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।"[1]

अभिनवगुप्ताचार्य ने मुक्तक की व्याख्या इन शब्दों में की है—

"मुक्तकमन्येनालिंगितम्। तस्य संज्ञायां कन्। पूर्वापरनिरपेक्षणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।"[2]

अर्थात् मुक्तक वह रचना है जो परस्पर निरपेक्ष होते हुए भी रसास्वादन में समर्थ हो। सफल मुक्तककार वही है जिसके निरपेक्ष पद का श्लोक में भी प्रबंध का-सा रस-सागर प्रवाहमान हो। ध्वन्यालोककार आनंद वर्द्धनाचार्य ने मुक्तककार की इसी विशेषता की ओर इंगित करते हुए लिखा है—

"मुक्तकेषु हि प्रबंधेषु इव रसबंधाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबंधायमानाः प्रसिद्धा एव।"[3]

अर्थात् मुक्तक काव्यों में कवि कूट-कूटकर रस भर देते हैं। उदाहरणार्थ अमरुक कवि के श्लोक प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनमें शृंगार रस टपक-सा रहा है और जिसका प्रत्येक श्लोक प्रबंधकाव्य है।

मुक्तक काव्य में रस की अनिवार्यता भारतीय ही नहीं, पाश्चात्य विद्वानों को

---

१. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृष्ठ ३१
२. ध्वन्यालोक की लोचन टीका ३।७
३. ध्वन्यालोक, उद्योत ३, कारिका ७

"निसदिन बरसत नैन हमारे ।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर जब ते स्याम सिधारे ।"[1]

और यदि ऐसे नयनो से घन हार जायें तो आश्चर्य ही क्या ? बिना ऋतु बरसने वालों से ऋतु मे बरसने वाला घन कैसे समानता कर सकता है ? निःसन्देह, सूर ने प्रकृति के माध्यम से जिन भावों का सृजन किया है, वे विद्यापति के काव्य मे अप्राप्य हैं। सूर के हृदय से जो धारा बह निकलती है, विद्यापति का हृदय उससे अनजान है।

विद्यापति और सूर दोनो ने कृष्ण के विरह का भी वर्णन किया है। विद्यापति के कृष्ण दूती से अपनी व्यथा कहते हैं—

"कठिन कलेवर तेईं चलि आओल
चित्त रहलि ओइ ठामा ।
से बिनु राति दिवस नहि भावए
ताहि रहल मन लागी ।,
आन रमनि सये राज सम्पद आय
आछिए जइसे विरागी ।।"

तो सूर के कृष्ण उद्धव को अपनी वेदना सुनाते हैं—

"ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं ।
हंससुता की सुन्दर कगरी और कुंजन की छाहीं ।
ग्वाल बाल सब करत कोलाहल नाचत गहि-गहि बाहीं ।।"[1]

बातें दोनो कवियो की एक ही हैं, परन्तु सूर के वर्णन मे सजीवता अपेक्षाकृत अधिक है।

सूर और विद्यापति दोनों ही सफल महाकवि हैं। उन्होने वियोग की सम्पूर्ण अवस्थाओं को अपने काव्य मे चित्रित किया। दोनो ने ही हृदय की अनेक दशाओं को देखा, भावों की गहराई को बड़े मनोवैज्ञानिक ढग से अभिव्यक्त किया, वेदना की कसक को विरहिणी के शब्द-शब्द से निसृत किया, किन्तु सूर का क्षेत्र व्यापक होने के कारण तथा पुष्टिमार्गी भक्ति के प्रचारक होने के कारण उन्होने विरह की मर्म-व्यथा को अधिक सामान्य भावभूमि पर लाकर परखा। विद्यापति ने अपनी सीमित परिधि मे रहकर भी मानवीय भावनाओं की अशेष और सहज अभिव्यक्ति की।

अतः कहा जा सकता है कि शास्त्रीय दृष्टि से भी, मनोवैज्ञानिक निकष से भी और काव्यात्मकता की कसौटी से भी विद्यापति का विरह-वर्णन सांग तथा सफल है।

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पृष्ठ १६४४

: ६ :

विद्यापति का मुक्तक काव्य

विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से श्रव्य काव्य के दो भेद किए जा सकते हैं—प्रबंध और मुक्तक। प्रबंधकाव्य में विषय की समग्रता होती है, उसके खंड-चित्र कथा के तन्तुओं से आबद्ध होकर परस्पर संबद्ध होते हैं, इसीलिए उसमें नीरस स्थलों के खप जाने की भी गुँजायश होती है। मुक्तक काव्य में विषय के किसी एक खंड का चित्रण होता है जो अपने में स्वतः पूर्ण होता है। कथा का अभाव होने के कारण यहां नीरस स्थलों के खप जाने की गुंजायश नहीं होती।

अतः मुक्तककार को ऐसे पदों अथवा श्लोकों की रचना करनी पड़ती है जो अपने अर्थ में स्वतः पूर्ण भी होते हैं और चमत्कार-विधायक भी। इसीलिए अग्निपुराण में मुक्तक की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

"मुक्तकं श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।"[1]

अभिनवगुप्ताचार्य ने मुक्तक की व्याख्या इन शब्दों में की हैं—

"मुक्तकमन्येनालिंगितम्। तस्य संज्ञायां कन। पूर्वापरनिरपेक्षणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।"[2]

अर्थात् मुक्तक वह रचना है जो परस्पर निरपेक्ष होते हुए भी रसास्वादन में समर्थ हो। सफल मुक्तककार वही है जिसके निरपेक्ष पद का श्लोक में भी प्रबंध का-सा रस-सागर प्रवाहमान हो। ध्वन्यालोककार आनंद वर्द्धनाचार्य ने मुक्तककार की इसी विशेषता की ओर इंगित करते हुए लिखा है—

"मुक्तकेषु हि प्रबंधेषु इव रसबंधाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगारसस्यन्दिनः प्रबंधायमानाः प्रसिद्धा एव।"[3]

अर्थात् मुक्तक काव्यों में कवि कूट-कूटकर रस भर देते हैं। उदाहरणार्थ अमरुक कवि के श्लोक प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनमें शृंगार रस टपक-सा रहा है और जिसका प्रत्येक श्लोक प्रबंधकाव्य है।

मुक्तक काव्य में रस की अनिवार्यता भारतीय ही नहीं, पाश्चात्य विद्वानों को

---

१. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृष्ठ ३१
२. ध्वन्यालोक की लोचन टीका ३।७
३. ध्वन्यालोक, उद्योत ३, कारिका ७

भी मान्य है। अर्नेस्ट राइस के अनुसार सफल मुक्तक वही है जिसमें भाव या भावात्मक विचार का भाषा में स्वाभाविक स्पष्टीकरण हो। अर्नेस्ट राइस के इन शब्दों में रस की परोक्ष अभिव्यक्ति है।

मुक्तक और प्रगीति

हिन्दी के कुछ आलोचक मुक्तक और प्रगीत काव्य में कोई भेद नहीं मानते। एक आलोचक का कथन है—

"मुक्तक या प्रगीत काव्य में व्यक्तिगत अनुभूति की प्रधानता रहती है, अतः गीतिकाव्य की रचना उसी समय होती है जिस समय भाव घनीभूत होकर आवेश के साथ काव्योचित भाषा में अभिव्यक्त किये जाते हैं। भारतीय साहित्य में गीतिकाव्य या मुक्तक का कोई अलग विभाजन नहीं, क्योंकि काव्य गेय ही होता है।"

जहाँ तक गेयता का सबंध है, आज यह काव्य का अनिवार्य अंग नहीं रह गया है। गीतिकाव्य और मुक्तक काव्य के मध्य गहरी विभाजक रेखा खींचते हुए श्री राम-खेलावन पाण्डेय का कथन है—

"वस्तुतः गीतिकाव्य और मुक्तक काव्य में भारी अन्तर है। गीतिकाव्य अनुभूति की अन्विति उपस्थित करता है, ऐसी अवस्था में उसके पद्य अपने ही अन्य पद्यों की आकांक्षा अवश्य रखते हैं। मुक्तक छंद की इकाई मात्र उपस्थित करते हैं।"[1]

इसके अतिरिक्त भी इनमें कुछ भेद ये हैं—

१ गीतिकाव्य में गेयता अनिवार्य है, मुक्तक में अनिवार्य नहीं।

२. गीतिकाव्य में भाव या पंक्तियों की पुनरावृति होती है, या हो सकती है। मुक्तक काव्य में ऐसा कोई विधान नहीं है।

३. गीतिकाव्य में एक ही भाव कई ढंगों से दोहराया जाता है, या दोहरा सकते है। मुक्तक काव्य में इसके लिए स्थान नहीं।

एक बात और, सरस और नीरस नाम से मुक्तक के दो भेद किए जाते है। नीरस वर्ग के अन्तर्गत केवल चमत्कारविधायिनी और नीतिबद्ध उक्तियाँ आती हैं। बिहारी की सतसई में भी ऐसी उक्तियाँ यत्र तत्र मिल जाती हैं। रहीम और वृन्द तो कविता के माध्यम से नीतिशास्त्र का भी बखान करते हैं, पर ऐसी सभी उक्तियाँ काव्य नहीं कही जा सकती। काव्य की परिधि में वे ही उक्तियाँ आयेंगी जो रसोद्रेक में समर्थ होंगी अन्यथा उन्हे सूक्ति ही कहा जायगा। सूक्तियाँ किसी रस या भाव की व्यंजना का उद्देक नहीं करती, वे केवल चमत्कारविधायिका होती हैं। इसीलिए मुक्तक का सरस होना आवश्यक है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में—

---

१. गीतिकाव्य, पृष्ठ ६

"मुक्तकों में मर्मस्पर्शी वृत्तों का चुनाव इतना साफ होना चाहिए कि पाठक उस तक शीघ्र पहुँच सके और यह चुनाव भी सामान्य जीवन-क्षेत्र से ही होना चाहिए जिससे उसमें सबको अनुरंजित करने की क्षमता हो। जिन मुक्तकों में प्रसंग के आक्षेप में कठिनाई पड़ती है और जिसके लिए नाना प्रकार के अवतरणों का आक्षेप संभाव्य है, उन्हें मुक्तकों की दृष्टि से उतना उत्तम नहीं कहा जा सकता।"[1]

मुक्तक की परिभाषा

इन सभी विशेषताओं को दृष्टि में रखकर मुक्तक की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—

मुक्तक वह काव्यरूप है जो निरपेक्ष और स्वयं में परिपूर्ण हो, जिसमें रसोद्रेक की क्षमता हो तथा जो अपने सामान्य प्रसंगों के द्वारा शीघ्र ही पाठकों को अनुरंजित कर सके।

अब देखना यह है कि विद्यापति का मुक्तककारों में क्या स्थान है। विद्यापति का जो महत्त्व आज हिन्दी-साहित्य में है, अपनी पदावली के ही कारण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पदावली मुक्तक रचना है।

पूर्ववर्ती मुक्तककार

मुक्तक काव्य की परम्परा संस्कृत-साहित्य में काफी प्राचीन है। अमरुक, गोवर्धनाचार्य, कालिदास, जगन्नाथ और जयदेव आदि विद्वान् संस्कृत के मुक्तक काव्य के देदीप्यमान नक्षत्र माने जाते हैं। विद्यापति इन्हीं विद्वानों से विशेषरूपेण प्रभावित हैं और इन्हीं की संस्कृत-परम्परा को हिन्दी में विद्यापति लाए भी हैं। इनसे भाव ग्रहण करके भी विद्यापति ने अपनी काव्य-प्रतिभा के बल पर उन्हें बिलकुल मौलिकता प्रदान की है, बल्कि कहीं-कहीं तो वे अपने पूर्ववर्ती इन कवियों से भी कई हाथ आगे बढ़ गये हैं। किसी भी महाकवि की यही विशेषता होती है। यदि उपर्युक्त कवियों से विद्यापति की तुलना की जाए तो इनकी इस विशेषता पर मुग्ध होना पड़ता है।

अमरुक

अमरुक संस्कृत के मुक्तककारों में अग्रणी हैं। आनंदवर्द्धनाचार्य तो इनके काव्य से इस प्रकार प्रभावित हुए कि उन्होंने इनके एक-एक श्लोक को प्रबंध काव्य ही मान लिया। इसमें सन्देह नहीं कि अमरुकशतक में रस का अथाह सागर तरंगित है, किन्तु बहुत स्थल ऐसे हैं जहाँ विद्यापति अमरुक को काफी पीछे छोड़ जाते हैं। उदाहरण के लिए अमरुक का यह श्लोक लीजिए—

"तद्वक्त्राभिमुखं मुखं विनमितं दृष्टिः कृता पादयो—
स्तस्यालापकुतूहलाकुलतरे श्रोत्रे निरुद्धे मया।

१. बिहारी, पृष्ठ १००

दाक्षिण्यं च तिरस्कृतं सपुलकः स्वेदोद्गमो गण्डयो
सख्यः किं करवाणि यान्ति शतधा यत्कञ्चुके सन्धयः ।"[1]

यह उस नायिका की उक्ति है जो मान करने मे असमर्थ है और अपनी विवशता सखियों से कह रही है—हे सखियो ! मैं क्या करूँ ? मेरी चोली मे सैकडो छेद हो गये है । मैंने अपनी मानरक्षा के लिए क्या कुछ नही किया ? उनकी ओर देखते हुए मैंने अपने मुंह को मोडा, दृष्टि को पैरो की ओर किया, बातचीत सुनने के लिए आकुल कानों को रोका और कपोल पर आये पसीने को हाथो से पोंछा ।

इसी भाव का विद्यापति का यह पद है—

"अवनत आनन कए हम रहलिहुँ वारल लोचन चोर ।
पिया मुख-रुचि पिवय धाओल जनि से चाँद चकोर ।।
ततहु सओ हठे हटि आनल धएल चरन राखि ।
मधुक मातल उड़ए न पारए तइअओ पसारल पाँखि ।।
माधव बोलल मधुरी बानी से सुनि मृदु मोजे कान ।
ताहि अवसर ठाम बाम भेल धरि धनु पचबान ।।
तनु पसेवे पसाहनि भासलि तइसन पुलक जागु ।
चुनि-चुनि भय काँचुअ फाटलि बाहु बलआ भागु ।।
भन विद्यापति कम्पित कर हो बोलल बोल न जाय ।"

यदि अमरुक के इस श्लोक और विद्यापति के इस पद की तुलना की जाय तो यह सिद्ध हो जाता है कि विद्यापति मे अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविकता, सरसता और प्रभावोत्पादकता है क्योंकि 'अमरुक की नायिका नायक से दृष्टि हटाकर अपने पैर की ओर ले जाती है । विद्यापति ने इसी भाव पर रग चढाकर इसे कैसा सरस बना दिया है ? विद्यापति की नायिका आँखो की चचलता और चोरी से पूर्ण परिचित है । इसीलिए सबसे पहले वह उन्हे रोकती है, किन्तु आँखे रुकती नही हैं, अतः चोरो की तरह उन्हे पकडकर वह चरणरूपी कारागार मे रख देती है, या पकडे जाने पर आँखें पैरो पर गिर पडती हैं अर्थात् क्षमा के लिए प्रार्थना करती हैं । अमरुक की नायिका के कान नायक के वचन सुनने के लिए व्याकुल हो रहे हैं, किन्तु नायिका जबरदस्ती उन्हे रोकती है । विद्यापति की नायिका नायक की बातें सुनना नही चाहती, किन्तु माधव का वचन सुनकर उसके कानो की कर्कशता दूर हो गई, वे मृदु हो गये और वचन सुनने के लिए विवश हो गये । यहाँ मृदु शब्द ने कमाल कर दिया है । अमरुक की नायिका के गाल मे थोडा पसीना हुआ जिसे वह पोछकर छिपा लेती है, किन्तु विद्यापति की नायिका के शरीर मे पसीने की धारा उमड पडी है जिसे वह छिपा नही सकती है । अमरुक की नायिका कहती है कि उसकी चोली के सैकड़ों टुकडे हो गये, किन्तु विद्यापति की

१. अमरुक शतक

नायिका कहती है कि वह केवल चोली कटने का चुन-चुन शब्द सुन सकी थी कि उसका वाला टूट गया, हाथ काँपने लगे और उसके मुँह से एक भी बात नहीं निकल सकी। यही कारण है कि अमरुक की नायिका की तरह वह स्पष्ट शब्दों में यह नहीं कह सकी कि मैं क्या करूँ? किस तरह मान की रक्षा करूँ? इस मौनोक्ति में जो सरसता है वह गला फाड़-फाड़कर चिल्लाने में कहाँ? अमरुक ने नायिका के पसीना होने का कोई कारण नहीं बतलाया, किन्तु विद्यापति ने धनुष पर पाँच बाणों का संधान कर कामदेव को खड़ा कर दिया। अबला के सामने धनुष पर पाँच बाण चढ़ाकर यदि कोई वीर खड़ा हो जाय तो पसीना होना, काँपना आदि स्वाभाविक है।'

गोवर्धनाचार्य

गीतगोविन्दकार जयदेव ने गोवर्धनाचार्य के काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि शृंगार रस की निर्दोष रचना में इनकी कोई भी समता नहीं कर सकता, किन्तु विद्यापति कहीं-कहीं इनको भी पीछे छोड़ गये हैं। गोवर्धनाचार्य का एक श्लोक इस इस प्रकार है—

> **"अगृहीतानुनया. मामुपेक्ष्य सख्यो गता वलैकाहम्।**
> **प्रसभं करोषि मयि चेत्त्वदुपरि वपुरद्य मोक्ष्यामि॥"**

अर्थात् नायिका नायक से कहती है—मैंने मान का त्याग नहीं किया है, बल्कि सखियाँ मुझे अकेली छोड़कर चली गई हैं। यदि तुम बलात्कार करोगे तो मैं अभी मर जाऊँगी। यहाँ श्लेष से 'मैं तुम्हारे शरीर पर अपने को गिराऊँगी' का व्यंग्यार्थ बलात्कार की ओर संकेत है।

इसी भाव को विद्यापति ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

> **"ए हरि बलें जदि परसबि मोय,**
> **तिरिबध-पातक लागत तोय।**
> **तुहुँ रस-आगर नागर ढीठ,**
> **हम न बुझिअ रस तीत कि मीठ॥"**

यदि इन दोनों की तुलना की जाए तो विद्यापति में अधिक प्रभाव-क्षमता है। गोवर्धनाचार्य की नायिका आत्महत्या की धमकी देकर नायक को रोकती है, किन्तु विद्यापति की नायिका स्त्री-वध के पाप का भय दिखलाती है। इसमें सन्देह नहीं कि विद्यापति के शब्दों में अधिक प्रभाव है। विशेष से सामान्य अधिक प्रभावशाली हुआ ही करता है। यही नहीं, नायिका का नायक को रस-सागर और रस-पंडित बताना तथा स्वयं को इस विषय में अनभिज्ञ बताना 'त्वदुपरि वपुरद्य मोक्ष्यामि' की अपेक्षा बहुत ही स्वाभाविक और स्त्री-सुलभ-लज्जा का परिचायक है।

कालिदास

कालिदास शृंगारतिलक के रचयिता हैं। गोवर्धनाचार्य की अपेक्षा विद्यापति

कालिदास से अधिक प्रभावित है। विद्यापति के अनेक ऐसे पद हैं जिन पर शृंगारतिलक की छाया स्पष्ट है। छाया-ग्रहण करके भी विद्यापति ने अपनी काव्यप्रतिभा से उसे इस प्रकार सजोया और सँवारा है कि शृंगारतिलककार का काव्य फीका-सा प्रतीत होने लगता है। कालिदास का नायक नायिका की मुख-श्री की प्रशंसा करता हुआ कहता है—

'झटिति प्रविश गेहं मा बहिस्तिष्ठ कान्ते
ग्रहणसमयवेला वर्तते शीतरश्मेः।
तव मुखमकलंकं वीक्ष्य नूनं स राहु—
र्ग्रसति तव मुखेन्दुं पूर्णचन्द्रं विहाय।'[1]

अर्थात् हे कान्ता! तुम बाहर मत रहो, शीघ्रता से घर में प्रवेश करो। यह चन्द्रग्रहण का समय है। कलंक से रहित और सुन्दर तुम्हारा मुख देखकर राहु पूर्णचन्द्र को छोड़कर तुम्हारे मुखेन्दु को ग्रस लेगा।

यही भाव विद्यापति ने इस प्रकार प्रकट किया है—

"लोलुअ बदना-सिरी धनि तोरि, जनु लागिह तोही चादक चोरि।
दरसि हलह जनु हेरहु काहू, चाँद भरम मुख गरसत राहू।
धवल नयन तोर काजर कार, तीख तरल तेंहि कटाख क धार।
निरखि निहारि फाँस गुन जोलि, बाँधि हलत तोहि खंजन बोलि।
सागर सार चोराओल चन्द, ता लागि राहु करय बड़ दन्द।
भनइ विद्यापति होउ निसंक, चाँदहु को किछु लागु कलंक।"

इन दोनों की तुलना प० शिवनन्दन ठाकुर के शब्दों में देखिए—

"कालिदास नायिका को घर में प्रवेश करने का उपदेश दे रहे हैं क्योंकि उन्हें डर है कि ग्रहण के समय मुँह को चन्द्रमा समझकर राहु उसे निगल न जाय। मेरे विचार से मुख का अकलङ्कम् विशेषण अच्छा नहीं है क्योंकि मुँह में कलंक नहीं होना ही सीधी पहचान है कि वह चन्द्रमा नहीं है। फिर इस प्रकार की आशंका क्यों? इस अस्वाभाविकता को दूर करने के लिए विद्यापति ने मुँह के विरुद्ध चन्द्रमा की चोरी का कलंक लगा-कर अपनी विदग्धता का परिचय दिया है। विद्यापति कहते हैं कि केवल राहु का ही डर नहीं है, डर है व्याध का भी। इसलिए खंजनरूपी आँखें और चन्द्ररूपी मुँह छिपा-कर रक्खो। विद्यापति ने व्याध को बुलाकर शिकार की उत्तमता पर उसे लुभाकर कामिनी की कमनीयता और भी बढ़ा दी।"[2]

जयदेव

संस्कृत-कवियों में विद्यापति जयदेव से इतने अधिक प्रभावित हैं कि इन्हें हिन्दी साहित्य में 'अभिनव जयदेव' कहा जाता है। जयदेव की सी संगीतात्मकता के अतिरिक्त

१. शृंगार तिलक
२. महाकवि विद्यापति, पृ० १२६-२७

कहीं-कहीं भाव-साम्य भी विद्यापति में मिलता है, किन्तु इन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर उसमें चार चाँद लगा दिए हैं। उदाहरणार्थ, जयदेव का यह श्लोक देखिए—

"भ्रूचापे निहितः कटाक्षविशिखो निर्मातु मर्मव्यथाम्।
श्यामात्मा कुटिलः करोतु कबरीभारोऽपि मारोद्यमम्॥"[१]

अर्थात् भौं रूपी धनुष पर चढ़ाया हुआ कटाक्ष रूपी बाण मेरे मर्मस्थानों पर आघात करें। काली और तिरछी गूँथी हुई वेणी काम की सहायता करे।

यही भाव विद्यापति ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"बेनी विमल विराज तन वसु कुसुमावलि-हार।
स्याम भुअंगम देखिकहुँ कियो काम परहार॥
कह परहार मदन सर बाला कुटिल कटाख बान कनिमाला।
कम्बु कण्ठ मृणाल भुज बलित पयोधर हार।
कनक कलस रस पूरि रहु संचित मदन भँणार॥"

जयदेव ने वेणीधर को श्याम और कुटिल बताया है तथा उसमें काम के सहायक होने की योग्यता प्रदर्शित की है। विद्यापति ने उसकी तुलना साँप से की है। उस साँप में भी काम के बाणों को रोक देने की क्षमता नहीं है। साथ ही विद्यापति ने नायिका को पुष्पमाला भी प्रदान की है जिससे मर्मव्यथा में वृद्धि ही होती है। काम बाला से जूझ रहा है। युद्ध में जय-पराजय से रस-भंग न हो जाये इसलिए विद्यापति ने काम का भंडार रस से परिपूर्ण बताया है। इस प्रकार विद्यापति में जयदेव की अपेक्षा अधिक सरसता है।

परवर्ती कवि

यहाँ तक तो हुई विद्यापति के पूर्ववर्ती कवियों की बात जिनसे विद्यापति प्रभावित अवश्य हैं, किन्तु भावों में उनसे बढ़े-चढ़े हैं। अब थोड़ा सा विचार विद्यापति के परवर्ती कवियों पर भी कर लें जो विद्यापति से प्रभावित तो हुए, परन्तु विद्यापति की-सी सजीवता और सरलता अपने काव्यों में न ला सके।

बिहारी

विद्यापति ने वयः संधि का वर्णन इस प्रकार किया है—

"सैसव जीवन दरसन भल, दुहु पथ हेरइत मनसिज गेल।
मदन क भाव पहिल परचार, भिन जन देल भिन्न अधिकार॥
कटि क गौरव पाओल नितम्ब, एक क खीन अओक अवलंब।
प्रकट हास अब गोपत भेल, उरज प्रगट अब तन्हिक लेल॥
चरन चपल गति लोचन पाव, लोचन क धैरज पदतल जाव।
नव कवि सेखर कि कहइत पार, भिन-भिन राज भिन्न बेवहार॥"

१- गीतगोविन्द

बिहारी ने भी अज्ञात यौवना का वर्णन किया है—

'अपने अँग के जानि के जौवन नृपति प्रवीन ।
स्तन, मन, नैन, नितम्ब को बड़ो इजाफा कीन ॥'[1]

विद्यापति अपने पद में जिस वातावरण की सृष्टि कर सके हैं, विद्यापति के दोहे में उसका नितान्त अभाव है । विद्यापति ने कामदेव को राजा मानकर जिस रूप को अपनाया है वह बिहारी के 'जौवन नृपति' से अधिक सरस और प्रभावोत्पादक है ।

अज्ञात यौवना के अधिक चित्र रीतिकालीन साहित्य में प्राप्त होते हैं, किन्तु विद्यापति का-सा स्वाभाविक और सजीव वर्णन उसमें कहीं भी नहीं मिलता । यथा—

"खने खन नयन कोन अनुसरई
खने खन बसन धूलि तन भरई ।
खने खन दसन छटा छुट हास,
खने खन अधर आगे गहु बास ।
चहुँकि चलए खने खन चलु मंद,
मनमथ पाठ पहिल अनुबंध ।
हिरदय मुकुल हेरि हेरि थोर,
खने आँचर दए खने होए भोर ।"

देव

देव का अज्ञात यौवना का वर्णन इस प्रकार है—

'नैको सुहाति न जाति गड़ी उर पीर बड़ी गहि गाढ़ी गसी क्यों ?
खैंचि खपून खरी खटकै नहिं नीठि खुलै खुभि डीठि धँसी क्यों ?
'देव' कहा कहौं तोसों जु मोसी तैं आज करी बिन काज हँसी क्यों ?
गाँठिए तोरि तनी छितु छोड़ि दै छातीए कंचुकि ऐंचि कसी क्यों ?"

देव के वर्णन में नायिका की यौवन के प्रति अनभिज्ञता अवश्य है, किन्तु विद्यापति का-सा गत्यात्मक, सजीव और स्वाभाविक चित्रण यहाँ नहीं है ।

नखशिख-वर्णन भी विद्यापति का अद्वितीय है । यथा—

"माधव की कहब सुन्दरि रूपे ।
कतेक जतन बिहि आनि समारल देखल नयन सरूपे ॥
पल्लवराज चरणयुग सोभित गति गजराज क भाने ।
कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने ॥"

सूर

इसी भाव को सूर ने भी व्यक्त किया है—

---

१. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ४

"अद्भुत एक अनुपम बाग ।
जुगल कमल पर गज बर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग ।।
रुचिर कपोल बसत ता ऊपर ताहू पर अमृत फल लाग ।
फल पर पुहुप पहुप पर पल्लव तापर शुकपिक मृग मद काग ।।"[1]

सूर ने नायिका के शरीर की उपमा एक अद्भुत बाग से देकर अपनी काव्य-प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है, किन्तु विद्यापति का सूक्ष्म निरीक्षण अधिक है। सूर ने 'जुगल कमल पर गज बर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग' कहकर नायिका के चरणों, जंघाओं और कटि का परिचय तो दिया है, परन्तु 'कनक कदलि पर सिंह समारल' से सूक्ष्म निरीक्षण का इसमें अभाव है। 'कनक कदलि' शब्द में नायिका की जंघाओं का जो सौन्दर्य, चिक्कणता और उतार-चढ़ाव है, वह सूर के वर्णन में अप्राप्य है।

प्रेम की भाषा जितनी व्यंग्यपूर्ण होती है, वह उतनी ही प्रभावशाली होती है। नायिका यदि आत्मसमर्पण करते समय अभिधा में ही अपने मन की बात कह दे तो फिर उसमें सजीवता नहीं रहती, बल्कि प्रेम का रूप भी कुछ-कुछ विकृत-सा हो जाता है। विद्यापति इस तथ्य से पूर्णतया अवगत थे। तभी तो इनकी राधा कहती है—

"कर धए करु मोहे पारे,
देब पें अपरुब हारे, कन्हैया।
सखि सब तेजि चलि गेली,
न जानू कौन पथ भेली, कन्हैया।
हम न जाएब तुअ पासे,
जाएब औघट घाटे, कन्हैया।"

इस पद में नारी-मन का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

मतिराम

इसी प्रकार का एक पद मतिराम का भी है—

"आई हौं निपट सांझ गैया गई घर मांझ,
ह्यां ते दौरि आई कछु मेरो काम कीजिए।
हौं तो हौं अकेली और दूसरो न देखियत,
बन की अंधियारी सों अधिक भय भीजिए।
कवि 'मतिराम' मनमोहन सों पुनि-पुनि,
राधिका कहति बात साँचि कै पतीजिए।
कब की हौं हेरति, न हेरे हरि पावत हौं,
बछड़ा हिरान्यो सो हिराय नैक दीजिए।"

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, पृष्ठ ६६६

विद्यापति की राधा जंगल में अकेली है और कृष्ण से यमुना पार कराके औघट घाट पहुँचाने का अनुग्रह कर रही है; मतिराम की राधा बछड़ा ढूंढने के बहाने कृष्ण को जंगल में ले जाना चाहती है। दोनों का एक ही लक्ष्य है। मतिराम का वर्णन सामान्य जीवन की घटना पर आधृत होने से अधिक प्रभावपूर्ण है, किन्तु विद्यापति की राधा में अधिक संयम है, अवसर परखने की अधिक चातुरी है। मतिराम अवसर का निर्माण करते हैं और विद्यापति अवसर का उपयोग। हमें तो ऐसा लगता है कि विद्यापति की राधा की अपेक्षा मतिराम की राधा में कामाग्नि अधिक प्रबल है जो नारी-चरित्र के लिए अभिशाप ही है।

कहाँ तक कहें, विद्यापति का स्थान मुक्तककारों में अग्रणी है। जिनका इन्होंने अनुकरण किया उन्हें इन्होंने अपनी काव्य-प्रतिभा से पछाड़ दिया और जिन्होंने इनका अनुकरण किया, वे इनसे बहुत पीछे रह गये। कवि की महानता की कसौटी भी यही है।

: १० :

विद्यापति की गीति-कला

भाषा के माध्यम से जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति ही काव्य है। इस अभिव्यंजना में कवि के दो रूप होते हैं। एक रूप में तो वह तटस्थ दर्शक की भाँति केवल अपने विषय का निरूपण करता चलता है और दूसरे रूप में वह अपने विषय-निरूपण में अपने व्यक्तित्व को समाहित कर देता है, अर्थात् पहले प्रकार में 'कवि स्वयं से पार्थक्य बनाए जगत् के कार्य और भाव का मिश्रण करता है तथा अपने व्यक्तित्व को अछूता रखकर अपने ज्ञान के आधार पर विषय का प्रतिपादन करता है'[1] और दूसरे में 'कवि स्वयं को विषय में समाहित करके अपने ज्ञान, भावों और अनुभवों के द्वारा निजी प्रेरणा एवं विषयों की अभिव्यंजना करता है।'[2] अभिव्यंजना के इन प्रकारों के आधार पर पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों ने काव्य के दो भेद किए हैं—बाह्यवादी या विषय-प्रधान और अन्तर्वादी या विषयि-प्रधान। बाह्यवादी काव्य में 'जिस प्रकार फ़ोटो खींचने वाले किसी भी दृश्य का सम्पूर्ण चित्र अपने कैमेरा द्वारा खींच देते हैं; उसी प्रकार कवि भी बाह्य रूप से उसका चित्रण करते हैं।'[3] अन्तर्वादी काव्य में 'जिस प्रकार नाटक के पात्र अपनी कहानी दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं, उसी प्रकार कवि भी अपनी कहानी पाठकों के सम्मुख'[4] रखता है। गीति-काव्य अन्तर्वादी काव्य का ही एक भेद है।

उत्पत्ति और परम्परा

मानव-मन सदैव जीवन की दो विरोधी धाराओं में डूबता-उबरता रहता है।

---

१. There is the poetry in which the poet goes out of himself, mingles with the action and passion of the world without, and deals with what he discovers there with little reference to his own individuality.

२. There is the poetry in which the poet goes down into himself and finds inspiration and his subjects in his own experiences, thoughts and feelings.

—An introduction to the study of litertture, page 96

३. काव्य की परख, एस० पी० खत्री, पृष्ठ ७३-७४

४. काव्य की परख, एस० पी० खत्री, पृष्ठ ७४

कभी वह आशा के स्वर्णिम शृंग पर चढकर हर्ष का तुमुल नाद करता है तो कभी निराशा की तमाच्छन्न खोह मे छिपकर करुण क्रन्दन करता है; कभी उल्लास की तूलिका से अपने सुनहले स्वप्नो मे गहरे रग भरता है तो कभी विषाद की स्याही से पोतकर उन्हें गहन कालिमामय बना देता है। इन्ही विरोधी धाराओ मे उसकी अनुभूति सजग होती है और जब वह अनुभूति मानस की सीमाओं मे आबद्ध नही रह पाती तो वाणी के माध्यम मे स्वत फूट पडती है। हृदय की इन्ही तीव्रानुभूतियो के स्फुरण से गीति का जन्म हुआ। पतजी के मत मे यह अनुभूति उल्लास की न होकर विषाद की होगी—

"वियोगी होगा पहला कवि
आह से फूटा होगा गान।
उमड कर आँखो से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।"[1]

महादेवी वर्मा गीति की आदि-अनुभूति विषाद नही, उल्लास मानती है। वे लिखती है—

'सभव है, जिस प्रकार प्रभात की सुनहली रश्मि छूकर चिडिया आनंद से चहचहा उठती है, जिस प्रकार मेघ को घुमडता-फिरता देखकर मयूर नाच उठता है, उसी प्रकार मनुष्य ने भी पहले-पहल अपने भावो का प्रकाशन ध्वनि और गति द्वारा किया हो।'

चाहे जो हो, गीति-परम्परा है काफी प्राचीन। वैदिक साहित्य मे इसका उल्लेख मिलता है वैदिक साहित्य मे दो प्रकार के गीतो की चर्चा है—ऋक् और गाथा। ऋक् गीति वे है जो ईश्वर और देवताओ की प्रार्थनाओ से सबधित है और गाथा गीतों मे राजाओ तथा मनुष्यो के साहसिक कार्यों का वर्णन है। बौद्धो की 'थेर गाथाएं' भी गीति ही है।

सामवेद के पश्चात् सस्कृत-साहित्य मे साहित्यिक गीतो की परपरा लुप्तप्राय: है जो जयदेव मे आकर पुन प्रवाहवती बनी है। जयदेव के गीतो की विशेषताओ को देखकर यह तो नही कहा जा सकता कि यह धारा बिलकुल लुप्त हो गई थी, वरन् अप्रत्यक्ष रूप मे अवश्यमेव प्रवाहित रही है। इस धारा के अन्तर्निहित होने का कारण सभवत यह है कि भावावेशपूर्ण होने से इन गीतो मे अधिकाधिक शृगारिकता आती गई जो स्मृतिकारो को अरुचिकर थी। जयदेव ने इसी अन्तर्निहित और अवच्छिन्न धारा को रूप और प्रवाह प्रदान किया।

प्राकृत और अपभ्रश मे भी गीतो की परपरा अक्षुण्ण है। इनमे युद्ध और प्रेम दोनो प्रकार के गीति लिखे गए। यह तथ्य है कि वीरगीतो मे वीरता की भावना के अभाव मे वह गति न आ पाई जो प्रेमगीतो मे है।

---

१. आधुनिक कवि पन्त, पृष्ठ १५

हिंदी-साहित्य का आदिकाल प्रबंधगीतों से परिपूर्ण है। 'बीसलदेव रासो' शृंगार प्रधान प्रबंध गीति है और 'आल्हखंड' वीर रस प्रधान। आदिकाल के पश्चात् ही मिथिला की अमराइयों में 'मैथिल कोकिल' के स्वरों में वह स्वर्ग-संगीत छिड़ा जो शीघ्र ही समूचे भारत में गूंज उठा और जिसकी अप्रतिम लहरियों से समस्त काव्योपवन पुष्पित एवं सुरभित हो उठा। विद्यापति के पश्चात् तो गीतिकाव्य का मार्ग अत्यन्त ही प्रशस्त बन गया और हिंदी-साहित्य एक से एक सुंदर गीतों से भर गया। इन गीतों में प्रधानतया कृष्ण की लोकरंजक लीलाओं का शृंगार और माधुर्य भक्ति का प्रवाह निर्बंध उद्गारों में प्रकट हुआ। भक्तिकाल में रहस्य-गीतों की ही प्रधानता रही। उनकी मिलन-विरह की मार्मिक अनुभूतियाँ अलौकिक होते हुए भी लौकिक-सी प्रतीत होती हैं। महादेवी वर्मा के शब्दों में—

"रहस्य-गीतों का मूलाधार भी आत्मानुभूत अखंड चेतन है. पर वह साधक की मिलन-विरह की मार्मिक अनुभूतियों में इस प्रकार घुलमिल सका कि उसकी अलौकिक स्थिति भी लोक-सामान्य हो गई।"[1]

भक्तिकाल के पश्चात् रीतिकाल का आविर्भाव हुआ। कला का ध्येय बदला। भक्तिकालीन अलौकिकता एकदम लौकिकता की धड़कनों से स्पंदित हुई। इस काल में मुक्तक रचनाएँ तो बहुत रची गईं, पर भाव-प्रधान संवेदनापूर्ण गीतों का प्रणयन कम ही हुआ, अतः इस काल में गीतिकाव्य का ह्रास ही समझना चाहिए।

आधुनिक काल में हिंदी-गीतिकाव्य बंगला और अंगरेज़ी से प्रभाव ग्रहण करके पूर्ण रूप से पनप रहा है। साहित्यिक गीत और लोकगीत दोनों उत्तरोत्तर उन्नति कर रहे हैं। इस काल में गीतों का प्राधान्य यहाँ तक बढ़ा है कि महाकाव्यों में भी इन्हें स्थान दिया जाने लगा है। निःसंदेह, हिन्दी गीतिकाव्य का भविष्य उज्ज्वल है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी गीति की उत्पत्ति पर विचार किया है। श्री एच० टी० पेक लिखते हैं—

"गीतिकाव्य कविता का सर्वाधिक सहज प्रकार होने के कारण निश्चित रूप से सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, अन्य दूसरे चेष्टाजन्य रूप निश्चित ही इनके बाद और इसी से उत्पन्न हुए।"[2]

पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि गीतिकाव्य अथवा 'लिरिक' (Lyric) शब्द का प्रादुर्भाव 'लायर' (Lyre) शब्द से हुआ जिसका अर्थ बीन अथवा वीणा है। इन लोगों का अनुमान है कि पहले-पहल लोगों ने लायर अथवा वीणा के सहयोग में गाने योग्य गीति रचे होंगे और फिर क्रमशः गीतों को ही 'लिरिक' कहा जाने लगा। गीतिकाव्य की प्रमुख विशेषता संगीतात्मकता, निस्संदेह इस अनुमान की आधारशिला है।

१- दीपशिखा की भूमिका, पृष्ठ ५८

२. The Lyrics of Tennyson.

कालक्रम की दृष्टि से ई० डब्ल्यू० हॉपकिन्स ने भारतीय गीतो को चार भागो मे विभाजित किया है—

१ वैदिक गीत (ई० पू० ८वी शताब्दी से चौथी शताब्दी तक)—इन गीतो मे धार्मिक और वीरगाथात्मक गीतियो का प्राधान्य है।

२. भक्ति गीत (ई० पू० चौथी शताब्दी से पहली शताब्दी तक)—इन गीतों मे भक्ति-भाव की प्रधानता है।

३ प्रेम गीत—इनमे विरह-मिलन की मार्मिक अनुभूतियाँ हैं।

४ रहस्य गीत—ये गीत हैं तो प्रेम गीत ही, परन्तु आध्यात्मिक और रहस्य के साथ वासना के रंगो मे मिले-जुले होने के कारण अत्यन्त गहन और उलझनपूर्ण है।[1]

विकास-क्रम की दृष्टि से गीतिकाव्य की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं—

१. प्रारम्भिक अवस्था मे गीति गेय थे। उनमे भाव-प्रसार के लिए काव्यत्व का अधिक आग्रह न था। मिलन-विरह, हर्ष-विषाद का चित्रण संगीत और गेयता के द्वारा प्रस्तुत किया जाता था, भावुकता के द्वारा नही। इस अवस्था मे न तो शब्द का ही कोई महत्त्व था और न विषय-विधान का ही विकास हो पाया था। भाव-प्रकाशन के लिए वाद्य-यन्त्रो की सहायता अपेक्षित थी।

२ दूसरी अवस्था मे संगीत और गीति का अन्तर स्पष्ट हुआ। संगीत मे शास्त्रीय विधान की रक्षा का आग्रह था तो गीतो मे भावुकता और आत्माभिव्यक्ति का। इस अवस्था मे यद्यपि संगीत का मोह बराबर बना रहा, पर उसकी प्रधानता क्रमश कम होती गई। वर्णन-विधान अलङ्कृत रूप-विधान का हेतु न रहकर आत्माभिव्यंजना का साधन बना।

३. तीसरी अवस्था मे भाव और संगीत की समान स्तर पर प्रतिष्ठा हुई। भाव और संगीत, विषय और विधान के एकीकरण के द्वारा गीतो की कलात्मकता का विकास हुआ। संगीत और काव्य एक दूसरे की सीमा मे साधिकार प्रविष्ट हुए। इस अवस्था मे संगीतात्मकता की भावना परम्परागत और सासारिक है। छन्दो का संगीत अपने बँधे नियमो के अन्तर्गत चलता है।

वर्गीकरण

कवि की भावना गीतो के माध्यम मे अनेक रूपो मे प्रस्फुटित होती है, इसलिए गीतो के असंख्य भेद हो सकते है। स्थूल रूप से इनके वर्गीकरण के दो आधार हो सकते हैं—अभिव्यंजना का आधार और विषय का आधार।

अभिव्यंजना के आधार पर गीति के दो भेद हैं—साहित्यिक गीत और लोक-गीत। साहित्यिक गीतों मे भाषा का रूप सुघड, संस्कृत और परिमार्जित होता है।

१. The Early Lyric Poetry of India : Hopkins.

इनमें शास्त्रीय विधानों का पालन होता है। लोकगीतों की भाषा केवल अभिव्यक्ति का साधन होती है। 'लोकगीत वस्तुतः उस मानव संस्कृति और समाज के प्रतिनिधि हैं जो नागरिक वातावरण और कलात्मक साहित्यिकता से दूर ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित हैं। शिष्ट, मर्यादित और कलात्मक गीत (साहित्यिक गीत) समाज के केवल उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते है जो कि नागरिक तथा सुसंस्कृत हैं। इसीलिए लोक-गीत किसी भी देश की जन-संस्कृति, विचारधारा और चिन्तन-पद्धति की जानकारी में साहित्यिक गीतों की अपेक्षा अधिक सहायक होते हैं।'[1] 'लोकगीतों की कला सौन्दर्य-पूर्ण भले ही न हो, किन्तु उनको अलंकृत करने के लिये कोई व्यक्ति नियम-विशेष के बंधन में नहीं पड़ता, किन्तु साहित्यिक गीतों में कला का दिव्य रूप दिखाई पड़ता है, जो लोकगीतों में संभव नहीं।'[2]

विषय के आधार पर गीतिकाव्य के निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं—

१. धार्मिक अथवा स्तुतिपरक गीति (Hymns)
२. राष्ट्रीय गीति (Patriotic Songs)
३. प्रणय गीति (Love Lyrics)
४. शोक गीति (Elegy)
५. गौरव गीति (Ode)
६. उत्सव गीति (Convivial Lyrics)
७. चतुर्दशपदी (Sonnet)

डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकगीतों के विभाजन के निम्नलिखित आधार माने हैं—

१. संस्कारों की दृष्टि से
२. रसानुभूति की प्रणाली से
३. ऋतुओं और व्रतों के क्रम से
४. विभिन्न जातियों के प्रकार से
५. क्रिया-गीत की दृष्टि से

पं० रामनरेश त्रिपाठी ने लोकगीतों को ग्यारह श्रेणियों में विभक्त किया है—

१. संस्कार सम्बन्धी गीत
२. चक्की और चरखे के गीत
३. धर्म गीत
४. ऋतु सम्बन्धी गीत

---

१. साहित्य-विवेचन, पृष्ठ १०२
२. समीक्षा-शास्त्र, पृष्ठ ८३
३. लोक साहित्य की भूमिका, पृष्ठ २७

७—खेती, भिखमंगी तथा मेले के गीत
८. जाति गीत
९ वीर गाथा
१० गीत कथा
११ अनुभव के वचन[१]

पृ० सूर्यकरण पारीक ने लोकगीतो के विषयाधार पर २९ भेद किए हैं।[२]
पाश्चात्य विद्वानो ने गाये जाने के आधार पर गीतो के तीन भेद किये हैं—
१. समूह गान (Choral)
२ एक व्यक्ति द्वारा गाए जाने वाले (Monodic)
३ नृत्य के साथ गाए जाने वाले (Dorien)

गीति की परिभाषा

जिस प्रकार कविता की परिभाषा सुनिश्चित और सर्वमान्य नही है, उसी प्रकार गीति की भी परिभाषा देना सभव नहीं है। भिन्न-भिन्न विद्वानो ने अपने-अपने विचारो के अनुसार अपनी-अपनी शब्दावलियो मे गीति की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ देने के प्रयास किए है। इन प्रयासो मे से मुख्य प्रयास ये है -

१—वस्तुत गीति काव्य को ही कविता कहा जा सकता है। किसी कृति विशेष मे काव्यात्मकता जितनी अधिक होती है वह उसी अनुपात में गीतात्मक होती है। नाटक जितना ही काव्यात्मक होगा वह उतना ही गीतितत्व से पूर्ण होगा। महाकाव्य जितना ही अधिक काव्यात्मक हो वह उतना ही गीतात्मक होता है।[३]

—डॉ० चार्ल्स मिल्स

२—गीतिकाव्य का कवि जगत के सारे तत्वो को अपने मे समाहित करता है, अपने वैयक्तिक भावों के प्रभाव से इसे पूर्णत: आत्मसात् करता है और इस आत्मपरकता को सुरक्षित रखने वाली शैली में अभिव्यक्त करता है।[४]

—हीगेल

१. कविता कौमुदी भाग ५ पृ० ४५
२. राजस्थानी लोक गीत पृ० ७०-७४
३. In other words pure poetry in that which has the essentially poetic quality is lyric poetry. Every composition becomes increasingly lyrical as it become more poetic, the more poetical a drama is the more lyrical it in The more poetic an epic, the more lyrical it must be.'

—Methods and Materials of literary criticism. page 7.
Quoted by Dr. Gayloy in Methods Materials of literary criticism page 5.

३. वह गाना जो लायर बाजे के साथ गाया जा सके।[1]

—शिप्ले

४. गीतिकाव्य सामान्य कविता के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है जो किसी गीति-वाद्य के साथ गाई जाती हो या गाई जा सके।[2]

—ई० गोस

५. गीतिकाव्य इकहरे विचार, अनुभूति या स्थिति का चित्रण है जिसमें संक्षिप्तता, मानवीय भावना का रंग और गति अवश्य होनी चाहिए।[3]

—पालग्रेव

६. गीतिकाव्य कल्पना की गति है जिसके द्वारा ससीम मानवात्मा असीम के साथ सम्बद्ध होने का प्रयास करती है।[4]

—प्रो० एच० लॉज़

७. ···लिरिक अथवा गीतिकाव्य से प्रयोजन उन कविताओं से है जिनमें कवि ने अन्तर्वादी शैली अपनाकर अपने अन्तरतम की भावनाओं का परिचय दिया है।[5]

—ए० एस० पी० खत्री

८. साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुखदुखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।[6]

—महादेवी वर्मा

गीति-तत्व

यदि उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण किया जाय तो गीति-तत्वों का अनायास ही प्रकटीकरण हो जाता है। इन सभी परिभाषाओं का समन्वयात्मक निष्कर्ष ही गीति के तत्व हैं जो इस प्रकार हैं—

१. संगीतात्मकता
२. आत्माभिव्यक्ति अथवा वैयक्तिकता
३. रागात्मक अनुभूति अथवा भावप्रवणता

---

१. A poem to be sung to the lyre.

—Shipley's Dictionary of world literary terms

२. Encyclopedia Britanica, 11th Edition, Vol. XVIII, page 180.

३. Golden Treasury of Song and Lyrics : Preface.

४. The Lyric, a movement of fancy by which the spirit strives to life itself form limited to the universal.

—Outlines of Aesthetics : H. Lotze; Translated by G. T. Ladd, page 99.

५. काव्य की परख, पृष्ठ ६

६. दीपशिखा की भूमिका, पृष्ठ ५६

अब देखना यह है कि विद्यापति के गीतों में इन तत्त्वों का निर्वाह कितना और कैसा हुआ है।

विद्यापति की गीति-कला

गीतिकाव्य का पहला तत्त्व है संगीतात्मकता। यह दो प्रकार की होती है—स्वर-संगीत से युक्त और शब्द-योजना के संगीत से युक्त। विद्यापति के गीतों में स्वर और शब्द दोनों का संगीत प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। यह कहना अनुचित न होगा कि इनके गीतों को लोक और साहित्य में जो समादर प्राप्त हुआ, उसका एक विशेष कारण इनकी अपूर्व और हृदयहारी संगीतात्मकता ही है। इनके पद संगीत की अनुपम निर्झरिणियों के कल-निनाद से इस प्रकार फूट पड़ते हैं मानो स्वयं संगीत-देवी भावों की थिरकन लिए अपनी स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी गति से मचल रही हो। यथा—

"नन्दक नन्दन कदम्बक तरु-तर
धिरे धिरे मुरलि बजाव।
समय संकेत-निकेतन बइसल
बेरि बेरि बोल पठाव।"

इन पंक्तियों में स्वर-संगीत तथा शब्द-संगीत के साथ-साथ भावों की पूर्णाभिव्यक्ति विचारणीय है। यमुना-तट पर संकेत-स्थल पर बैठे हुए कृष्ण अभिसारिका राधा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। 'नन्दक नन्दन' में 'नन्दन' शब्द कृष्ण के व्यक्तित्व का परिचायक है। इसमें कृष्ण के मदोन्मत्त यौवन, यौवन में मचलती हुई अपरिमित सुनहली कामनाएँ और देह-गठन की कोमलता ध्वनित है। 'धिरे धिरे' में कृष्ण की आकुलता और समाज-भीरुता मुखरित है। ऐसा लगता है जैसे कृष्ण की आतुरता उन्हें वंशी बजाने को विवश कर रही हो, पर समाज के बंधन उस आतुरता का गला दबोच रहे हों। मानस की अदम्य आतुरता और समाज-बंधनों की कठोरता का भीषण द्वन्द्व धीरे-धीरे मुरली बजाने में व्यंजित है। 'बेरि बेरि बोल पठाव' में तो आतुरता अपनी चरम कोटि पर ही पहुँच जाती है। बंधनों की छातियों पर धड़कनों का इतिहास लिखना प्रेमी के लिए कोई नई बात नहीं है। कहीं भी कोई शब्द न तो अनावश्यक है और न कठोर ही। प्रेम के मंजुल सपनों की भाँति वाक्य-विन्यास भी मंजुल है और संगीत भी मधुर है।

विद्यापति का संगीत केवल संगीत के लिए ही नहीं है, अपितु भावोद्रेक में सहायक भी है। जिस प्रकार का वातावरण होता है, जैसी मन:स्थिति होती है उसी के अनुरूप संगीत की लहरियाँ थिरकती हैं। कृष्ण विदेश चले गये हैं। राधा विरह की निर्धूम वह्नि में जल रही है। अपनी मर्म-व्यथा को वह अपनी सखी से कहती है—

"लोचन धाए फेधाएल
हरि नहि आएल रे।"

प्रेमी का पथ देखते-देखते जिस विरहिणी की आँखें ही सूज गई हों, उसके हृदय की क्या गति होगी, इसकी सफल अभिव्यंजना करना महाकवियों से ही संभाव्य है। इस पद के 'रे' शब्द के द्वारा विद्यापति ने इस अभिव्यंजना को अभिव्यक्त ही नहीं किया, वरन् मानस-व्यथा को साकार ही कर दिया है। प्रिय के दर्शनों की आशा से निपट निराश प्रेमिका का असीम उच्छ्वास इस 'रे' ध्वनि से ध्वनित है।

विषाद में जब हृदय भारी हो जाता है, कंठ अवरुद्ध हो जाता है तो वाणी भी पंगु बन जाती है। ऐसी स्थिति में लम्बे-लम्बे वाक्यों का प्रस्फुटन अमनोवैज्ञानिक ही नहीं, असंभव भी है। विद्यापति इस तथ्य से पूर्णरूपेण अभिज्ञ थे, इसीलिए इनकी विरहिणी अपनी मर्मान्तक पीड़ा को इन शब्दों में प्रकट करती है—

"सखि मोर पिया।
अबहु न आओल, कुलिस-हिया।
नखर खोआओलु दिवस लिखि लिखि।
नयन अँधाओलु पिया पथ देखि।"

प्रियतम की आने की अवधि लिखते-लिखते जिसके नाखून घिस-घिस कर नष्ट हो गए हों, प्रिय-पथ देखते-देखते आँखें ही अंधी हो गई हों, उस विरहिणी की व्यथा से उसकी वाणी का खंडित हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। उपर्युक्त पंक्तियों का संगीत भी धाराप्रवाह में न होकर छोटे-छोटे वाक्यों में खंडित है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे विरहिणी अपनी समस्त शक्ति बटोर कर अपनी मर्म-व्यथा कहने को उद्यत हुई हो, किन्तु सिसकियों ने उसके वाक्यों को टुकड़े-टुकड़े कर दिया हो।

कहने का अभिप्राय यह है कि विद्यापति का संगीत केवल संगीत ही नहीं, भावों का उद्बोधक और अभिव्यंजक भी है। इनके पदों में सर्वत्र संगीतात्मकता का सफल बल्कि आशातीत निर्वाह हुआ है। डॉ० सुभद्र झा द्वारा संपादित विद्यापति-गीत-संग्रह में जितने भी पद दिए गये हैं वे सब रागबद्ध हैं।[1]

---

१. डा० सुभद्र झा के संग्रह की रागबद्धता इस प्रकार है—

पहले ५६ पद : मालव राग
५७ से १३० तक : धनछरी राग
१३१ से १३५ तक : असावरी राग
१३६ से १४६ तक : मलारी राग
१४७ वाँ ...... : सामरी राग
१४८ से १५४ तक : अहिरानी राग
१५५ से १५७ तक : केदार राग
१५८ से १६२ तक : कानडा राग
१६३ से १९४ तक : कोलर राग
१९६ से २०२ तक : सारंगी राग
२०३ से २०७ तक : गूजरी राग

इनके अतिरिक्त आगे के पदों में भी वसन्त विभास, नाटराग, ललित, धरली आदि राग दिए हुए हैं।

आत्माभिव्यक्ति अथवा वैयक्तिकता

यह गीतिकाव्य का दूसरा तत्व है। इसी तत्व की प्रधानता के कारण गीतिकाव्य और प्रबंधकाव्य के मध्य भेद-रेखा खींची गई है। इस तत्व का अभिप्राय यह है कि सफल कवि गीतिकाव्य में आत्माभिव्यक्ति ही करता है, अर्थात् अपनी ही पीड़ा से पीड़ित होता है, अपने ही उल्लास से उल्लसित होता है। जो कवि अपने व्यक्तित्व का समावेश नहीं कर सकता, वह सफल गीतिकार नहीं बन पाता। डॉ० दशरथ ओझा के शब्दों में—

'वास्तव में गीत को कवि के आर्तक्रंदन के पीछे छिपे हुए दुःखातिरेक के दीर्घ-निश्वास में छिपे हुए संयम से बांधना होगा तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा। गीत यदि दूसरे का इतिहास न रहकर वैयक्तिक सुख-दुख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है।"[1]

गीतिकाव्य में आत्माभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है—

१. कवि अपने विषय का प्रत्यक्ष रूप से वर्णन करता है।

२. कवि अपने विषय को अप्रत्यक्ष या परोक्षरूप से प्रस्तुत करता है।

इन दोनों प्रकारों में दूसरा प्रकार ही समीचीन, उपयुक्त और अधिक प्रभावोत्पादक है। व्यक्तित्व के अत्यधिक और प्रत्यक्ष प्रक्षेप के कारण काव्य की कलात्मकता को ठेस पहुँचती है, उसका प्रभाव कुंठित हो जाता है। हिन्दी-साहित्य में 'बच्चन' इस प्रकार के अग्रणी कवि हैं। आत्माभिव्यक्ति की सफलता व्यक्तित्व को अर्ध-प्रच्छन्न रखने में है। जो नियम काव्यार्थ के सम्बन्ध में है—

"सर्व ढके सोहत नहीं उघरे होत कुवेस।
अर्ध ढके छवि देत हैं कवि-अच्छर, कुच, केस॥"

यही गीतिकाव्य में कवि के व्यक्तित्व के विषय में भी चरितार्थ है। अतः कवि को आत्माभिव्यक्ति में संयमशील होना चाहिए।

विद्यापति के गीति आत्माभिव्यक्ति के उपर्युक्त प्रकारों में से दूसरे प्रकार के अन्तर्गत आते हैं। सम्पूर्ण पदावली के भाव एक ही व्यक्ति के भावों की विभिन्न लड़ियाँ हैं। राधा और कृष्ण के मधुर मिलन में स्वयं कवि की आत्मा मुखरित है। राधा के रूप-वर्णन में कवि की सौन्दर्य-भावना जिस प्रकार मचल उठती है उसे देखते हुए यह संभावना भी नहीं की जा सकती कि कवि किसी तटस्थ दर्शक की भाँति केवल कल्पना के कगार पर खड़ा होकर शास्त्रीय परम्पराओं का पालन कर रहा है। विद्यापति के उपमान शास्त्रीय होते हुए भी कवि के हृदय के लगाव से अछूते नहीं हैं। तभी तो ये राधा का इतना सर्वांगपूर्ण रूप-चित्रण कर पाये हैं। इन चित्रणों में यत्र-

१ समीक्षा शास्त्र, पृष्ठ १

तत्र कवि के हृदय की विशालता, भावों की उदात्त भावना भी फूट पड़ी है। यथा—

जहाँ-जहाँ पग-जुग धरई। तहिं-तहिं सरोरुह झरई।
जहाँ-जहाँ झलकत अंग। तहिं-तहिं बिजुरि तरंग॥"

इन पंक्तियों में जायसी की-सी रहस्यात्मकता[1] बिलकुल नहीं है। कवि का अपने हृदय का विस्तार है। यदि कवि के इस वर्णन में हृदय संबद्ध न होता, केवल मस्तिष्क का बल होता तो सम्भवतः यह वर्णन भी रसलीन के इस वर्णन की भाँति होता—

"जेहि मग दौरत निरदई तेरे नैन कजाक।
तेहि मग फिरत सनेहिया किए गरेबां चाक॥"

और विरह! इसमें तो प्रत्येक कवि का मानस छलकने ही लगता है। काल्पनिक विरह के सागर में रूप-कुरूप बनाकर आकंठ डूबने का दिखावा करने वाले कवियों की बात दूसरी है। फिर सुनने में यह भी आता है कि विद्यापति की अनुरक्ति रानी लखिमादेवी में थी। यद्यपि प्रमाण और तर्क इस अनुश्रुति की पुष्टि नहीं करते। हो सकता है कि विद्यापति के हृदय में यह लहर भी आई हो, किन्तु राजा के डर से या लिहाज से या किसी अन्य कारण से इन्होंने इसे हृदय में ही दबोच दिया हो जो यथावसर गीति के माध्यम से व्यक्त होती रही हो। चाहे जो हो, विद्यापति का विरह-वर्णन केवल कल्पना की उड़ान नहीं, अपनी निजी अनुभूति की परोक्ष अभिव्यक्ति है। विरह के क्षणों में जहाँ अनेक बातें मानस के कगारों से टकराती हैं, वहाँ इस भाव का भी टकरा जाना स्वाभाविक नहीं, तथ्यपूर्ण है—

"अंकुर तपन ताप यदि जारब,
कि करब बारिद मेह।
ई नव जौबन बिरह गमाओब,
कि करब से पिया गेह।"

यौवन के बीत जाने पर ही यदि प्रियतम लौटे तो फिर यौवन और उनके आगमन की सार्थकता ही क्या रही? कतिपय आलोचकों को इसमें भले ही मांसलता दिखाई दे, किन्तु इसके सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता। यह उस हृदय की अभिव्यक्ति है जो अपनी कामना की पूर्ति में तो विवश है, पर जो उसकी अभिव्यक्ति में जगत् के बंधन और शास्त्र की परम्पराओं की चिन्ता नहीं करता। सचमुच ऐसे पदों में कवि का व्यक्तित्व अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष हो गया है।

---

१. नयन जो देखा कमल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा दसन जोति नग हीर॥

रागात्मक अनुभूति अथवा भाव-प्रवणता

रागात्मक अनुभूति अथवा भाव-प्रवणता गीतिकाव्य का प्राण है। गीति का जन्म ही अन्तर्ज्वाला से हुआ है। कवि के आकुल प्राण जब इस अन्तर्ज्वाला से झुलसने लगते हैं तभी वह गा उठता है, उसकी अन्तर्वेदना वाणी का सबल लेकर फूट पड़ती है। अन्तर्ज्वाला की यह प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न कवियों में विभिन्न प्रकार से होती है। वर्ड्सवर्थ में यह ज्वाला शांत और गंभीर है, बायरन में तीव्र है, शेली में पहले थोड़ी और बाद में सहसा भड़कने वाली है, पंत का अन्तर्दाह शांत है, दीपक की भाँति तिल-तिल करके जलने वाला है।

विद्यापति के गीतों में रागात्मक अनुभूति प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। इनका अन्तर्दाह राधा के माध्यम से अदम्य होकर फूट पड़ा है—

"सून सेज हिय सालए रे
पिया बिनु घर मोयँ आजि।
बिनती करओं सहलोलिनि रे
मोहि देह अगिहर साजि।"

प्रिय के बिना सूनी सेज प्रेमिकाओं को सदा से ही सालती चली आ रही है और इस दुख का केवल एक ही उपचार है—जलकर मर जाना। रागात्मक अनुभूति की यही चरम परिणति है।

प्रिय के आने की अवधि का सामीप्य जितना सुखदाई है, उतना ही प्रतिक्रिया-वादी भी है। ज्यों-ज्यों अवधि समीप आती जाती है, मन पर अनेक प्रकार के भाव अंकित होते जाते हैं। मन स्थिति की इस प्रक्रिया को रागात्मक अनुभूति ही सबल और सशक्त बनाती है—

"सखि हे कतहु न देखि मधाई।
काँप शरीर धीर नहिं मानस,
अवधि नियर भेल आई।"

रागात्मक अनुभूति के कारण ही प्रेमी आशा-निराशा, सुख-दुख, हर्ष-विषाद आदि विरोधी भावों में सदा डूबता-उतराता रहता है। विद्यापति के गीतों में ये सभी अवस्थाएँ सजीव और साकार हैं।

डा० नगेन्द्र का मन्तव्य है कि महादेवी के गीतों में भाव-प्रवणता का अभाव तो नहीं है, किंतु उस परिमाण का अभाव है जो गीतिकाव्य के लिए अपेक्षित है। इसके उन्होंने तीन कारण बताए हैं—

१. कवियत्री अपने भावों और आवेशों को संयत रखने के लिए प्रयत्न-शील है।

२. कवयित्री में चिन्तन तथा कल्पना की मात्रा अधिक है।

३. कवयित्री में परोक्ष सत्ता के प्रति प्राधान्य है।[१]

विद्यापति के गीतों में इस प्रकार की बाधाएँ नहीं। इन पर न तो संयम का अंकुश है, न कल्पना का आधिक्य है और न रहस्यात्मकता का आवरण। यही कारण है कि इनके गीतों का प्रवाह अबाध है, भावों का उच्छलन अजस्र है और अभिव्यक्ति का आघात मर्मस्पर्शी है। हिंदी-साहित्य में घनानन्द भाव के देवता हैं। इनके पदों में सहज भावों का अगाध सागर उद्वेलित है। अपनी रागात्मक अनुभूति की सीमा पर खड़े होकर ये कह उठते हैं——

"तब हार पहार से लागत हे अब आनके बीच मैं पहार परे।"

विद्यापति भी इनसे पीछे नहीं रहते। इनकी भावुकता भी छलक पड़ती है——

"तिल एक सयन ओत जिउ न सइए, न रहए दुहु तनु भीन।
माँझे पुलक गिरि अंतर मानिए, अइसन रह निसि-दीन॥"

घनानन्द का व्यवधान तो 'हार' के कारण है, पर विद्यापति का नायक तो रोमांचित होने के कारण रोमांच को ही पहाड़ जैसा अंतर मान बैठता है। इसे कल्पना की खिलवाड़ न समझकर रागात्मक अनुभूति की अपरिमितता ही समझना चाहिए।

लोकगीति

अभिव्यंजना के आधार पर हमने गीतों के दो भेद किए थे——साहित्यिक या कलात्मक गीति और लोकगीति। विद्यापति के साहित्यिक गीतों का विवेचन करने के पश्चात् इनके लोकगीतों पर भी चर्चा करना अनिवार्य है। केवल साहित्यिक गीतों के आधार पर गीतिकार विद्यापति का अध्ययन अधूरा ही है।

लोकगीतों का स्वरूप समझने के लिए फ्रांसिस बी० गूमर का यह कथन पर्याप्त है——

'लोकगाथाओं (लोकगीतों) का महत्त्व केवल इसी बात में नहीं है कि उनमें अकृत्रिम काव्य-भावना उपलब्ध होती है। वे परम्परा की भाषा में ही अपनी अभिव्यक्ति नहीं करते, प्रत्युत् जन-समूह की वाणी द्वारा प्रकाशन करते हैं। उनमें किसी प्रकार की गोपनीयता नहीं पाई जाती। जो वस्तु जैसी है उसका यथातथ्य रूप में वे वर्णन करते हैं। वे स्वतन्त्र हैं, तथा खुली हवा की भाँति ताजे हैं। वायु और सूर्य का प्रकाश उनमें खेल करता है।'[२]

श्री गूमर ने लोकगीतों के जिन तत्वों की ओर संकेत किया है वे इनकी मूलभूत

१. 'महादेवी का गीतिकला' पर दिए गए भाषण से

२. The *abiding* value of the ballad is that they give a hint of primitive and unspoiled poetic *sensation*. They speak not only in the language of tradition, but *also* with the voice of multitude. There is nothing subtle in their working and they appeal to things as they are. Form one voice of *modern literature* they are free—. They can tell a good tale. They are fresh with the open air. Wind and sunshine play through *them*.
—The popular Ballad, page 417.

विशेषताएँ हैं जो इस प्रकार रक्खी जा सकती हैं—

१ लोकगीतों में अभिव्यंजना की कृत्रिमता नहीं होती, अर्थात् ये हृदय के सहज स्फुरण होते हैं।

२ लोकगीतों पर समाज का अंकुश नहीं होता, बल्कि वे विषय का यथातथ्य वर्णन करते हैं।

३ लोकगीतों पर शास्त्रीय बंधन भी नहीं होते। इनमें वायु की-सी प्राण-दायिनी शक्ति और सूर्य-प्रकाश का-सा उल्लास होता है।

विद्यापति के साहित्यिक गीतों में तो ये विशेषताएँ मिलती ही हैं, इनके अतिरिक्त इन्होंने लोकगीतों का भी प्रणयन किया है। दरबार के वैभवपूर्ण वातावरण में लोकगीतों की ओर प्रवृत्ति इनकी लोक-भावना की परिचायिका है। 'विद्यापति की कोमल-कान्त-पदावली से परिपूरित इस बोली (मैथिली) के लोकगीत भी बड़े सरस और मधुर हैं।'[१] लोकगीतों में अलंकार-योजना श्रमसाध्य नहीं, स्वाभाविक होती है। भाव के प्रवाह में बह कर जो अलंकार स्वतः आकर भावोद्रेक में सहायक सिद्ध होते हैं वे ही इनमें खप सकते हैं। हाँ, लय और तुक पर अवश्य ध्यान रक्खा जाता है। इनमें रे, ना, हे, आहो, रामा आदि शब्दों को लय और तुक के विधान के लिए विशेष-रूप से ग्रहण किया जाता है। विद्यापति के साहित्यिक गीतों में भी यह विधान यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। यथा—

१ एत दिन छलि नव रीति रे।
जल मीन जेइन पिरीति रे।

२ सुन्दरि चललिहु पहु-घर ना।
चहुदिस सखि सब कर धर ना।

३ जाहि लागि गेलि हे,
ताहि कहाँ लइलि हे।

लोकगीतों में भावाभिव्यक्ति शब्द से नहीं, लय की आत्मा के आधार पर होती है। विद्यापति के गीतों में लय की यह आत्मा विद्यमान है। लोक की लय, लोक की घटना और लोक की अभिव्यक्ति में विद्यापति का यह गीति कितना मधुर बन पड़ा है—

"कुंज-भवन सयं निकसलि रे
रोकल गिरधारी।
एकहि नगर बस माधव रे
जनि कर बटमारी।
छाडु कन्हैया मोर आँचर रे
फाटत नव सारी।

---

१. लोक साहित्य की भूमिका, पृष्ठ २३

अपजस होएत जगत भरि रे
जनि करिअ उघारी।"

कुंज-भवन से निकलती राधा को कृष्ण ने रोक लिया। इस पर राधा ने अपने जिस नारीत्व की दुहाई दी है, उसकी प्रभावोत्पादकता लय की लहरियों में बह कर शतगुणी बन गई है।

कहीं-कहीं विद्यापति ने लोकगीति के तत्त्वों को इतना अपनाया है कि वे गीति बिलकुल ही लोकगीति बन गये हैं। यथा—

"मोरे रे अँगनवाँ चनन केरि गछिया
ताहि चढ़ कुररय काग रे।
सोने चोंच बाँधि देब तोयँ बायस
जयों पिया आवत आज रे॥"

इस गीति में ग्रामीण वातावरण के मध्य ग्रामीण प्रोषित-पतिका का युग-युगान्तरों से चला आ रहा ग्रामीण विश्वास स्वाभाविक भाषा के माध्यम से ही व्यक्त किया गया है।

अतः कहा जा सकता है कि गीतिकार विद्यापति के व्यक्तित्व में कलात्मक और लोकगीति दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य है। इनके गीतों में एक ओर कलात्मक गीतों की साज-सज्जा और सुघड़ता के दर्शन होते हैं तो दूसरी ओर लोकगीतों की सरलता, स्वाभाविकता, भावमयता और स्वच्छन्दता का भी पूर्ण विकास परिलक्षित होता है। जिस प्रकार विधाता ने विद्यापति की राधा के मुख की रचना चाँद-सार से की और फिर युवती ने उसे अमृत से धोकर तज्जन्य कान्ति से दसों दिशाओं को प्रकाशित कर दिया,[1] उसी प्रकार विद्यापति ने अपने गीतों में शास्त्र और लोक का समंजन करके अपूर्व भावलोक की सृष्टि की है, जो अपना उपमान स्वयं ही है।

विद्यापति के गीतिकाव्य का विवेचन कर लेने के पश्चात् यह आवश्यक है कि इनकी तुलना अन्य प्रमुख गीतिकारों से की जाए।

जयदेव

सबसे पहले जयदेव को लीजिए। जयदेव गीतों के सम्राट् हैं और विद्यापति सबसे अधिक इन्हीं से प्रभावित हैं। जयदेव अपनी कोमलकान्त पदावली से समन्वित संगीतात्मकता के लिए प्रसिद्ध हैं और उनकी यह प्रसिद्धि ठीक ही है। 'गीतगोविंद'

१. चाँद-सार लए मुख घटना करु
लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोय आँचर धनि पोछलि
दह दिसि भेल उँजोरे।

का यह श्लोक देखिए—

"ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुंजकुटीरे ॥"

× × ×

"श्रीजयदेव भणितमिदमुदयति हरिचरणस्मृतिसारम्।
सरसवसन्तसमयवनवर्णनमनुगतमदनविकारम् ॥"[1]

इस गीत में वसन्त का वर्णन है। वसन्त-श्री में जो सरसता, कमनीयता, मधुरता होती है, वही इस गीत की रचना में भी है। लगता है जैसे संगीत, लय और शब्दों का उपयुक्त परिधान पाकर वसन्त-श्री साकार हो उठी हो। विद्यापति के गीतों में भी ये ही विशेषताएँ हैं। अबाध संगीत, मधुर शब्दावली, भावानुगामिनी लय इनमें भी उपलब्ध है। यथा—

"नन्दक नन्दन कदम्ब क तरु-तर
धिरे धिरे मुरलि बजाव।
समय संकेत निकेतन बइसल
बेरि बेरि बोलि पठाव ॥"

विद्यापति में जयदेव की सभी विशेषताएं मिलती हैं, किन्तु एक बात में वे जयदेव से भी आगे निकल गये हैं। श्री रामखेलावन पाण्डेय के शब्दों में—

'जयदेव में एक ओर जहां वर्णन का विशेष आग्रह है, वहां विद्यापति में रागात्मक आवेश की अभिव्यक्ति। अत: विद्यापति के गीत गीतिकाव्य के अधिक समीप हैं।'[2]

चंडीदास

चंडीदास और विद्यापति की तुलना करते हुए रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि विद्यापति सुख के कवि हैं और चंडीदास दुख के। विद्यापति विरह में कातर हो उठते हैं और चंडीदास को मिलन में भी सुख नहीं। विद्यापति जगत् में प्रेम को ही सार मानते हैं और चंडीदास प्रेम को ही जगत समझते हैं। विद्यापति भोग के कवि हैं, चंडीदास सहन के।

कबीर

कबीर के गीतों में साहित्यिकता कम है तथा भावावेश एवं रागात्मक अनुभूति की तीव्रता और गंभीरता अधिक है। यथा—

"साईं बिन दरद करेजो होय।
दिन नहीं चैन रात नहीं निदिया, कासे कहूं दुख रोय ॥

---

१. गीत गोविन्द
२. गीतिकाव्य, पृष्ठ २०

आधी रतियां पिछले पहरवां, साईं बिना तरस तरस रही सोय ।]
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, साईं मिले सुख होय ।।"

विद्यापति में भावावेश, रागात्मक अनुभूति की तीव्रता तथा गंभीरता और साहित्यिकता सभी कुछ हैं । कारण यह है कि कबीर के पास केवल हृदय था, सरस्वती की छाया उन्हें प्राप्त न थी । विद्यापति में दोनों गुण थे । भावुक हृदय के साथ-साथ मस्तिष्क की विशालता भी थी ।

तुलसी

तुलसी में सरस हृदय की भावुकता और मस्तिष्क की विशालता तो है, किन्तु उनके काव्य पर सामाजिकता का नैतिक अंकुश अधिक है । अतः उनके काव्य में लोक-संग्रह का, जन-कल्याण का एवं धर्म-मर्यादा का विवेकपूर्ण विवेचन होने से वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति की अभिव्यंजना को ठेस पहुँची है । वे दार्शनिक और भक्त पहले हैं और गीतिकार बाद में—

"केसव कहि न जाय का कहिए ?
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए ।"

तुलसी के ऐसे गीतों में विद्यापति के गीतों की-सी सहज बोधगम्यता, प्रभावोत्पादकता और हृदयस्पर्शिता कहाँ ?

सूर

सूर में सामाजिकता का बंधन तो नहीं, पर अतिशय स्वतंत्र प्रवृत्ति का आग्रह अवश्य है । कहीं-कहीं उनके गीत इस प्रवृत्ति के कारण प्रभावान्विति को खो बैठे हैं । लेकिन सूर-साहित्य में ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं । वैसे सूर के गीत कवि की सूक्ष्म-ग्राहिणी दृष्टि और अनन्त भावुकता से बहुत सफल बन गये हैं । यथा—

"निसिदिन बरसत नैन हमारे ।
सदा रहत पावस ऋतु हमपें जब ते स्याम सिधारे ।"[1]

विद्यापति के गीतों में सूर की-सी तन्मयता तो है ही, साथ ही इनमें सूर जैसी स्वतन्त्र प्रकृति के दुराग्रह का अभाव है । इसीलिए इनके गीतों में प्रभावान्विति सर्वत्र बनी रहती है ।

मीरां

मीरां ने अपने काव्य को अलंकृत करने का प्रयास नहीं किया है । जो निश्छलता कबीर के उद्गारों में है उसकी पूर्ण परिणति मीरां में हुई है । कबीर की सरलता बुद्धि-मूलक है और मीरां की भावाकुलता मिश्रित । मीरां की प्रेम-पीड़ा, भावोन्माद, मिलनोत्कण्ठा, आत्मसमर्पण, आत्मविस्मृति अनुभूति की ठोस भूमि पर लोकोत्तर हो उठी है ।

१- सूरसागर, दशम स्कंध, पृ० १३६१

सहजानुभूति के क्षणों में वे गा उठती हैं—

"घायल बैद बुलाइया पकरि दिखाई बाँह।
मूरख बैद मरम नहिं जानत करक करेजे माँह॥"[1]

मीराँ की पीर अनन्त और असाध्य है। केवल 'बैद साँवलिया' ही उसका निदान करने में समर्थ है। विद्यापति की राधा भी प्रेम-पीर से व्याकुल है—

"सखि, कि पूछसि अनुभव मोय।
से हो पिरीत अनुराग बखानिये तिल तिल नूतन होय॥
जनम अवधि हम रूप निहारलु नयन न तिरपित भेल।
से हो मधु बोल स्रवनहि सूनल स्रुतिपथ परस न भेल॥"

केवल प्रियतम ही, जिसके दर्शन से नेत्र कभी तृप्त नहीं होते, जिसकी वाणी के माधुर्य से कानों की प्यास नहीं बुझती, जीवन का ताप मिटाकर उसे सरस बनाने में समर्थ है। इसमें मीराँ की भाँति विद्यापति के आकुल अंतर की पुकार है।

मीराँ के शब्दों में केवल सहजानुभूति की मार्मिक अभिव्यक्ति है, पर विद्यापति में तो शब्द और संगीत भी एकाकार हो उठे हैं।

गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त की विरहिणी उर्मिला कहती है—

"तुम्हारे हँसने में है फूल हमारे रोने में मोती।"

अत—

"न जा अधीर धूल में, दृगम्बु आ दुकूल में।"

इस गीत में भावावेश का स्वच्छंद प्रवाह नहीं। कल्पना और सौन्दर्य-बोध से जागृत और उद्दीप्त संगीतात्मकता से अधिक उक्ति-चित्रोपमता का आग्रह है। शब्दों के अन्तराल से फूट पडने वाले संगीत का यहाँ अभाव है। गुप्तजी की प्रतिभा गीति-काव्यात्मक नहीं, प्रबंधात्मक है।

प्रसाद

प्रसाद के गीतों में भावात्मकता और संगीतात्मकता तो है, पर विद्यापति की-सी सहज बोधगम्यता नहीं। प्रसाद का वय संधि का चित्रण देखिए—

"अधरों के मधुर कगारों में, कलकल ध्वनि की गुंजारों में,
मधु सरिता-सी यह हंसी तरल अपनी पीते रहते हो क्यों?
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों?"[2]

प्रसाद के इस सौन्दर्य-चित्र की भूमिका के रूप में विद्यापति की राधा को देखिए—

१. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ २८
२. चन्द्रगुप्त, पृ० ९१

"सैसव जौवन दुहु मिलि गेल।
स्रवन क पथ दुहु लोचन लेल।।
बचन क चातुरि लहु लहु हास।
धरनिये चाँद कएल परगास।।"

प्रसाद के वर्णन की अपेक्षा विद्यापति का वर्णन सरल तो है ही, व्यापक और प्रभावशाली भी अधिक है। जिस भूमिका में विद्यापति राधा को रख पाए हैं, प्रसाद में में उसका अभाव है। रामखेलावन पाण्डेय के शब्दों में—

"प्रसाद के इस सौन्दर्य-चित्र में तरल हास भी नहीं, हंसी अधरों पर छलछला नहीं पड़ती। कगारों के सीमा-बंध में पड़ी, कलकल ध्वनि की गुंजार से मुखरित मधु-सरिता-सी हंसी वह सौन्दर्य पीता रहता है। हंसी अधरों के कगारों का अतिक्रमण नहीं कर पाती, अधरों पर रेखा-सी खिलकर रह जाती है। मधु सरिता की कलकल ध्वनि फैल नहीं पाती, वह सौन्दर्य उसे नित्य पीता रहता है। वह हंसी कभी मुखरित भी नहीं होती, कभी मरती भी नहीं। प्रसाद के इस सौन्दर्य-चित्र में विद्यापति की राधा वाली 'आधी हंसी' भी नहीं, मुस्कान की क्षीण रेखा-मात्र है, संकोचहीन उल्लास-मय पूर्ण 'हास्य नहीं।"[1]

महादेवी

महादेवी के गीतों में सहजानुभूति का अभाव है। इनमें आग-भरा उच्छ्वसित आवेश भी नहीं। कल्पनाजन्य विरह का विस्तार होने के कारण गीत अस्पष्ट और दुर्बोध हैं। भावना के स्पष्ट वर्णन के स्थान में संकेतात्मक अभिव्यंजना हुई है। उदाहरणार्थ—

"मैं नीर भरी दुख की बदली!
स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा, क्रंदन में आहत विश्व हँसा।
नयनों में दीपक से जलते, पलकों में निर्झरिणी मचली।"[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि महादेवी के गीतों पर कल्पना की गहरी छाया है जो प्रतीकों से और भी गहरी बन गई है। अपनी सहज सरलता के कारण हृदय पर सीधी चोट करने की शक्ति से इनके गीत वंचित हैं। विद्यापति के गीति सुबोध और हृदयस्पर्शी हैं।

इतना विवेचन कर लेने के पश्चात् निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी-साहित्य के गीतिकारों में विद्यापति का मूर्धन्य स्थान है। संस्कृत के गीति-साहित्य में जयदेव गीतों के सम्राट् हैं तो विद्यापति हिन्दी के 'अभिनव जयदेव'। इनकी इस उपाधि में इनके गीतिकाव्य की वे सभी विशेषतायें पुञ्जीभूत हो गई हैं जिनके कारण जयदेव का समादर है, बल्कि कहीं-कहीं विद्यापति जयदेव को भी पीछे छोड़ गये हैं।

१. गीतकाव्य, पृष्ठ २०८—६
२. आधुनिक कवि भाग १ : महादेवी वर्मा, पृष्ठ ८६

: १० :

विद्यापति का प्रकृति-चित्रण

शुभ श्री महादेवी के शब्दों मे—

"दृश्य प्रकृति मानव-जीवन को अथ से इति तक चक्रवाल की तरह घेरे रही है। प्रकृति के विविध कोमल परुष, सुन्दर विरूप व्यक्त रहस्यमय रूपों के आकर्षण-विकर्षण ने मानव की बुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है, इसका लेखा-जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सबसे अधिक ऋणी ठहरेगा। वस्तुतः संस्कार-क्रम मे मानव-जाति का भाव-जगत् ही नहीं, उसके चिन्तन की दिशाएँ भी प्रकृति से विविध रूपात्मक परिचय द्वारा तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित हैं।"

निःसदेह, मानव और प्रकृति का सम्बन्ध आदिकाल से ही है। मानव ने प्रथम बार प्रकृति के मधुर प्रांगण मे ही आँखे खोली और उसीकी गोद मे फला-फूला। काल-भेद से प्रकृति के सम्बन्ध मे मानव की चिन्तन-धाराओ मे परिवर्तन होता रहा और वह प्रकृति के साथ नवीनतर सम्बन्धो से सम्बद्ध होता गया, उसके भाव-लोक मे प्रकृति के नये-नये रूप समाने लगे। मानव का यह भाव-लोक समय-समय पर काव्य-भूमि पर अवतीर्ण होता गया।

आदिकवि वाल्मीकि के महाकाव्य का प्रणयन प्रकृति की मधुर क्रोड मे ही हुआ। इनके काव्य मे प्रकृति का यथातथ्य चित्रण है। प्रकृति के चित्रो का सश्लिष्ट चित्रण ही इनके काव्य की पृष्ठभूमि है। सस्कृति के अमर महाकवि कालिदास और भवभूति भी इसी परम्परा के अन्तर्गत आते है। इन दोनो ने भी प्रकृति का सश्लिष्ट चित्रण ही किया है। शनै शनै मानव की आत्मा प्रकृति के जीवन मे नये-नये सम्बन्ध खोजती और उनकी अभिव्यक्ति करती गई। जायसी ने मानव-जीवन के साथ प्रकृति का तादात्म्य स्थापित किया। तुलसी ने प्रकृति के माध्यम से उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति की अभिव्यजना की। दीनदयाल गिरि ने अपनी अन्योक्तियो मे प्रकृति का खुलकर प्रयोग किया। रीतिकाल मे प्रकृति के उद्दीपन रूप का ही प्राबल्य रहा। उसका चक्र नायिका के इगितो पर ही चलता रहा। आधुनिक काल मे भारतीय विचारधारा पर यूरोपीय प्रभाव भी पडा। यूरोप के प्रकृतिवादी कवियो से हिन्दी के कवियों को प्रकृति-चित्रण की नई-नई प्रेरणाएँ मिली। क्रोचे ने तो यहाँ तक कह दिया—

"प्रकृति उसी व्यक्ति के लिए सुन्दर है जो उसे कलाकार की दृष्टि से देखता है। प्रकृति कला की समता में मूर्ख है और मानव उसे जब तक वाणी नहीं देता, वह मूक है।"[1]

फलतः मानव और प्रकृति के सम्बन्ध शतशः धाराओं में प्रवाहित होकर उमड़ पड़े। प्रसाद, पन्त, महादेवी, निराला आदि ने प्रकृति में अपनी विभिन्न मनोदशाओं का प्रतिबिम्ब विभिन्न रूपों में चित्रित किया।

प्रकृति-वर्णन की विधाएं

आधुनिक काल में प्रकृति-वर्णन की अनेक विधाएँ हैं जिनमें से प्रमुख ये हैं—

१. **आलंबन या यथातथ्य रूप में**—इस रूप में प्रकृति कवि के लिए साधन न रहकर साध्य बन जाती है। कवि प्रकृति का निरीक्षण करके उसके मनोरम रूप में डूब जाता है। वह प्रकृति का परिगणन प्रणाली से वर्णन न करके संश्लिष्ट रूप में वर्णन करता है। उसका मन प्रकृति के आकर्षण में बंध जाता है, वह आत्मविभोर हो उठता है।

२. **पृष्ठभूमि के रूप में**—आलंबन रूप और इस रूप में थोड़ा-सा अन्तर है। आलंबन रूप का कोई विशिष्ट प्रयोजन नहीं होता, केवल प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करना होता है; किन्तु पृष्ठभूमि के रूप में किया गया प्रकृति-वर्णन सप्रयोजन होता है। उसमें मानवीय भावों की छाया होती है।

३. **मानवीय भावनाओं के आरोप के रूप में**—इस रूप में प्रकृति के उपादानों के वास्तविक रूप में किसी प्रकार की विकृति नहीं लाई जाती, परन्तु महत्त्व उन्हीं उपादानों को दिया जाता है जो मानव की भावनाओं से साम्य रखती हैं।

४. **उद्दीपन रूप में**—इस रूप में प्रकृति मानवीय भावनाओं को उभारने का कार्य करती है। उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण दो रूपों में मिलता है—(१) जहाँ संयोग अवस्था में प्रकृति प्रेमियों के आनन्द की भावनाओं को उद्दीप्त करने में सहायक होती है। (२) जहाँ वियोग अवस्था में प्रकृति प्रेमियों के विरह दुख को तीव्रतर बनाती है। संयोग में प्रकृति का वर्णन षड्ऋतु के अन्तर्गत किया जाता है और वियोग में बारहमासा के। इन विभेदों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यही है कि सुख की घड़ियाँ देखते-देखते बीत जाती हैं और दुख का समय काटे नहीं कटता।

५. **प्रतीकात्मक रूप में**—कवि अपनी भावना के आधार पर प्रकृति के उपादानों में से अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए कुछ ऐसे प्रतीक चुन लेता है जो उसकी अभिव्यक्ति को अधिक सशक्त और प्रभावपूर्ण बना देते हैं।

६. **बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में**—इस रूप में प्रकृति और मानवीय भावनाओं का साम्य परिलक्षित होता है।

---

१. Aesthetics, page 99

७ उपदेशात्मक रूप मे—यहाँ प्रकृति के माध्यम से उपदेश दिये जाते है।

८ आलंकारिक रूप मे—इस रूप मे प्रकृति के उपादानो को सौन्दर्य के उपमान मानकर मानव-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की जाती है।

९. दूत के रूप मे—जब प्रकृति से सदेशवाहक का कार्य लिया जाता है कालिदास ने मेघ को दूत बनाया है, हरिऔध और गुप्तजी ने राधा और उर्मिला का सदेश पवन के द्वारा प्रेषित करने का वर्णन किया है।

१०. रहस्यात्मक रूप मे—रहस्यवादी कवि प्रकृति मे परम तत्त्व के दर्शन करता है और इस प्रकार प्रकृति सौन्दर्य और सुषमा की निधि न रहकर रहस्य के गूढ़ तत्त्वो का अमित भडार बन जाती है।

११ मानवीकरण के रूप मे—इस रूप म प्रकृति अचेतन न रहकर मानवात्मा की भाति सचेतन बन जाती है। प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप ही मानवीकरण है। छायावाद से पूर्व हिन्दी-साहित्य मे प्रकृति का मानवीकरण कम मिलता है।

प्रकृति-वर्णन की इन विविध विधाओ पर विहगावलोकन कर लेने के पश्चात् अब यह देखना है कि गीतिकाव्य मे किस प्रकार वर्णन उपयुक्त होता है और विद्यापति के काव्य मे यह उपयुक्तता किस सीमा तक प्राप्य है।

गीतिकाव्य और प्रकृति-चित्रण

श्री रामखेलावन पाण्डेय ने गीतिकाव्य और प्रकृति-चित्रण का सबध इन शब्दों मे प्रकट किया है—

"गीतिकाव्य मे अनुभूति और भावना की तीव्रता अपेक्षाकृत अधिक होती है। सवेदनशील क्षणो मे कवि की चेतना इतनी सजग और सक्षोभ्य होती है कि हलका से हलका स्पर्श उसे चचल कर देता है। इस स्पर्श का महत्त्व इस सवेदनशीलता के अनुसार होने और तीव्रता प्रदान करने मे है। इसलिए···गीतिकाव्य में शुद्ध प्रकृति-चित्रण का स्थान नहीं। शुद्ध प्रकृति-चित्रण से मेरा तात्पर्य प्रकृति के यथातथ्य चित्रण मे है, बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव ग्रहण कराने से है।"[1]

विद्यापति का प्रकृति-चित्रण

विद्यापति के गीतो मे प्रकृति-चित्रण अनेक रूपो मे हुआ है, जिनमे से प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं—

१. आलकारिक रूप
२. उद्दीपन रूप
३. मानवीकरण
४. आलंबन रूप अथवा स्वतत्र चित्रण

---
१. गीतिकाव्य, पृष्ठ १३२

आलंकारिक रूप

विद्यापति ने अपने गीतों में कृष्ण और राधा को आलंबन तथा आश्रय बनाकर उन्हें प्रकृति के अनेक उपादानों से अलंकृत किया है। वस्तुतः विद्यापति सौन्दर्य के कवि हैं। इनका हृदय स्वाभाविक रूप से प्रकृति के सौन्दर्य की ओर आकर्षित हुआ है और इन्होंने अपने काव्य में प्राकृतिक सौन्दर्य और मानव-सौन्दर्य का अपूर्व सामञ्जस्य किया है।

राधा और कृष्ण के नख-शिख का वर्णन प्रकृति के उपमानों के द्वारा ही किया गया है। कहीं-कहीं तो प्रकृति का राधा के अवयवों पर प्रत्यक्ष आरोप है। यथा—

"माधव की कहब सुन्दरि रूपे।
कतेक जतन बिहि आनि समारल देखल नयन सरूपे।।
पल्लवराज चरन-युग सोभित गति गजराज क भाने।
कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने।।
मेरु ऊपर दुइ कमल फुलायल नाल बिना रुचि पाई।
मनिमय हार धार बहु सुरसरि तजे नहि कमल सुखाई।।
अधर बिम्ब सन दशन दाड़िम बिजु रवि ससि उगथिक पासे।
राहु दूर बस नियरो न आवथि तें नहि करथि गरासे।।
सारँग नयन बयन पुनि सारँग सारँग तसु समधाने।
सारँग ऊपर उगल दस सारँग केलि करथि मधुपाने।।"

कृष्ण के रूप-चित्रण में भी कवि ने इसी प्रकार के उपमानों का प्रयोग किया है। जैसे—

"ए सखि पेखलि एक अपरूप। सुनइत मानवि सपन सरूप।।
कमल जुगल पर चाँदक माला। तापर उपजल तरुन तमाला।।
तापर बेढलि बिजुरी लता। कालिंदी तट धीरे-धीरे चलि जता।।
सखा सिखर सुधाकर पाँति। ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति।।
बिमल बिम्बफल जुगल विकास। तापर कीठ थीर कए बास।।
तापर चंचल खंजन जोर। तापर साँपिन झाँपल मोर।।"

सौन्दर्य-निरूपण के लिए विद्यापति ने प्रकृति के परंपरागत उपमानों को ही ग्रहण किया है। यथा—

"माधव की कहब सुन्दरि रूपे।
× ×
केलि करथि मधुपाने।।"

इस पद में नायिका के चरणों के लिए कमल, चाल के लिए गज-गति, जंघाओं के लिए कदलि, कटि के लिए सिंह, वक्षस्थल ने लिये पर्वत, कुचों के लिए कमल-पुष्प, होठों के लिए बिम्ब फल, दांतों के लिए अनार के दाने, मुख के लिए चन्द्रमा, भौंहों के

लिए कामदेव के धनुष, आँखों के लिए हरिण, स्वर के लिए पिक-स्वर, लटों के लिए भ्रमर का प्रयोग हुआ है। कवियों के लिए ये उपमान चिर-परिचित हैं।

परंपरागत उपमानों का ग्रहण करके भी विद्यापति ने अपने काव्य के भाव और सौन्दर्य को किसी प्रकार की ठेस नहीं लगने दी है।

प्रकृति के माध्यम से सौन्दर्य और स्फुरणशीलता को साकार बना देना विद्यापति की अपनी विशेषता है। श्री रघुवंश के शब्दों में—

"विद्यापति ने सौन्दर्य के साथ यौवन की स्फुरणशील स्थिति का संकेत प्रकृति के माध्यम से दिया है। सौन्दर्योपासक प्रकृतिवादी प्रकृति के दृश्यात्मक रूप में यौवन की व्यंजना के साथ आकर्षित होता है, उसीके समानान्तर विद्यापति मानवीय सौन्दर्य के उल्लासमय यौवन से आकर्षित होकर प्रकृति रूप-योजना के माध्यम से उसे व्यक्त करते हैं।"[1]

कहीं-कहीं पर विद्यापति ने राधा के सौन्दर्य को व्यापकता प्रदान की है और इस व्यापकता में प्रकृति का विकास दिखाया है। जैसे—

> "जहँ जहँ पग जुग धरई। तहिँ-तहिँ सरोरुह झरई॥
> जहँ-जहँ झलकत अंग। तहिँ-तहिँ बिजुरि तरंग॥
> जहँ-जहँ नयन विकास। तहिँ-तहिँ कमल प्रकास॥"

यह वर्णन भी परंपरागत ही है। तुलसी की सीता जी भी जिस ओर देखती हैं, उधर ही कमल-लोक बस जाता है। जायसी ने भी एक स्थान पर पद्मावती के सौन्दर्य का ऐसा ही वर्णन किया है—

> "नयन जो देखा कवल भा निरमल नीर सरीर।
> हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर॥"[2]

प्रकृति के जितने सुन्दर उपकरण हैं उनका सफल प्रयोग विद्यापति ने सौन्दर्य-निरूपण के लिए किया है।

उद्दीपन रूप

उद्दीपन रूप में प्रकृति मानवीय भावनाओं को उत्तेजित करती है। संयोग में यह मिलन-सुख का विस्तार करती है और वियोग में विरह-दुख का। विद्यापति ने शृंगार रस के अन्तर्गत प्रकृति के इस रूप का पर्याप्त प्रयोग किया है।

संयोग में प्रकृति का प्रत्येक क्रिया-कलाप नायक और नायिका के सुख की वृद्धि करता है। वृन्दावन में वसन्त के आ जाने पर सर्वत्र उल्लास का सागर उमड़ पड़ता है—

> "नव वृन्दावन नव-नव तरुगन नव-नव विकसित फूल।
> नवल बसन्त नवल मलयानिल मातल नव अलि कूल॥

१. प्रकृति और हिंदी काव्य, पृष्ठ ८१
२. जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ ७६

विहरइ नवल किसोर।
कालिंदी-पुलिन कुंज बन सोभन नव नव प्रेम बिभोर॥
नवल रसाल-मुकुल-मधु मातल नव कोकिल कुल गाय।
नवयुवती गन चित उमताग्रई नव रस कानन धाय॥"

प्रकृति के इस मादक प्रांगण में युवतियों का उन्मत्त हो जाना स्वाभाविक ही है। श्री रघुवंश के ये शब्द तथ्यपूर्ण हैं—

"प्रकृति के उद्दीपन रूप की दृष्टि से विद्यापति में लोक-गीतियों जैसी प्रवृत्ति मिलती है, परन्तु इन्हीं कारणों से प्रकृति तथा जीवन में भावों का प्रगुम्फन तीव्र हो उठता है। वसन्त का दृश्य-जगत् अपने रूप में अधिक मादक है।"[1]

जब समूचे वृन्दावन में वसंत-श्री ने आकर नवीन मादकता घोल दी है तब नवयुवतियों के हृदयों में उन्माद की तरगें उठेंगी ही। यही नहीं, वे युवतियाँ अगर स्त्रीसुलभ-लज्जा को भी चुनौती दे बैठीं तो इसमें भी आश्चर्य कुछ नहीं—

"नाचहु रे तरुनी तजहु लाज।
आएल वसन्त रितु बनिक राज॥"

इसके विपरीत, यही मादक प्रकृति वियोग में संतप्त करने वाली बन जाती है। तब नायिका को नव विकसित पत्तों से उल्लास नहीं मिलता, वलिक वह अपने विरह की लम्बी अवधि का ज्ञान कर लेती है और तब उसके उच्छ्वासों में और भी अधिक तीव्रता आ जाती है—

"बिपत अपत तरु पाओल रे,
पुन नव नव पात।
बिरहिन-नयन बिहल बिहि रे,
अबिरल बरसात।"

वर्षाऋतु तो विरहिणी के लिए कालस्वरूपा ही होती है। गगन में घमड़-घुमड़ कर आते-जाते बादलों को देखकर उसका हृदय बैठ जाता है। उल्लसित मयूरों का स्वर उसकी वेदना को और भी गहरी कर देता है—

"मोर बन बन सोर सुनइत
बढ़त मनमथ पीर।
× ×
पंचसर-सर छुटत रे कइसे
जीअए विरहिन नारि।"

वियोग में समूची प्रकृति वेदनामयी हो जाती है। विद्यापति ने इसका काफी चित्रण किया है।

१- प्रकृति और हिन्दी-काव्य, पृष्ठ ४५०

एक बात और, संयोग में प्रकृति-वर्णन षट्ऋतु के रूप में होता है और वियोग में बारहमासा के रूप में। विद्यापति ने भी इसी परंपरा का अनुसरण किया है।

मानवीकरण

अचेतन प्रकृति पर चेतना का आरोप ही मानवीकरण है। छायावादी काव्य की यह एक प्रमुख प्रवृत्ति है। विद्यापति की पदावली में भी प्रकृति का इस रूप में वर्णन मिलता है। यथा—

"माघ मास सिरि पंचमी गँजाइलि
नवम मास पंचमी हरुआई।
अति घन पीड़ा दुख बड पाओल
बनसपति भेलि धाई है।"...

इस पद में वसन्त का बालक के रूप में वर्णन किया गया है। बालक की उत्पत्ति की भांति ही वसन्त की उत्पत्ति भी वर्णित है। फिर वसन्त की युवावस्था आती है—

"बाल वसन्त तरुन भए धाओल
बढ़ए सकल संसारा।"

यही वसन्त फिर राजा बन जाता है। प्रकृति के अन्य उपादान इसे राजकीय समादर प्रदान करते हैं—

"आएल रितुपति राज बसंत। धाओल अलिकुल माधवि पंथ॥
दिनकर-किरन भेल पौगंड। केसर कुसुम धएल हेमदंड॥
नृप-आसन नव पीठल पात। कांचन कुसुम छत्र धरु माथ॥
मौलिक रसाल-मुकुल भेल ताय। समुखहि कोकिल पंचम गाय॥
सिखिकुल नाचत अलिकुल मंत्र। द्विजकुल आन पढ आसिख मंत्र॥"

छायावाद से पहले हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार का चित्रण बहुत कम है। विद्यापति ने अपने समय में प्रकृति का मानवीय वर्णन करके अपनी महती प्रतिभा का परिचय दिया है।

स्वतंत्र चित्रण

गीतिकाव्य में स्वतंत्र चित्रण का अधिक अवकाश नहीं होता, इसलिए इस रूप की ओर विद्यापति ने अधिक ध्यान नहीं दिया है। वसन्त-वर्णन में केवल एक-दो पद ही इस रूप में मिलते हैं, अन्यथा पदावली में इस रूप का अभाव-सा ही है। यथा—

"मधु रितु मधुकर पाँति। मधुर कुसुम मधु माँति॥
मधुर वृन्दावन माँझ। मधुर मधुर रस साज॥
मधुर जुवति जन संग। मधुर मधुर रस रंग॥"

वैसे यह वर्णन भी उद्दीपन के रूप में लिया जा सकता है।

विद्यापति के प्रकृति-वर्णन में रीतिकाल की सभी विशेषताएँ मिलती हैं, किन्तु इनके चित्रण में और रीतिकालीन चित्रण में अन्तर है। रीतिकालीन कवियों में प्रकृति के प्रति प्रेम और आकर्षण नहीं, उनका ध्येय तो प्रकृति के माध्यम से नायक-नायिकाओं की वासना को उत्तेजित करना था। विद्यापति ने केवल वासना को भड़काने के लिए प्रकृति का वर्णन नहीं किया, इन्होंने प्रकृति के माध्यम से ही नायक-नायिका के सौन्दर्य को निहारा। इनका प्रकृति-चित्रण केवल शास्त्रीय परंपरा से उऋण होना नहीं, वरन् उसमें इनका प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम मुखरित है।

विद्यापति का काव्य-सौन्दर्य

काव्य हृदय और मस्तिष्क के समुचित समन्वय की परिणति है, किन्तु सर्वत्र यह समन्वय नहीं पाया जाता। किसी काव्य मे हृदय की भावधारा का प्राधान्य होता है और किसी मे मस्तिष्क के चिन्तन का। इसी प्राधान्य के आधार पर काव्य के दो पक्ष माने गये है—भावपक्ष और कलापक्ष। भावपक्ष मे हृदय प्रधान होता है और कलापक्ष मे मस्तिष्क। वैसे प्रत्येक काव्य मे हृदय और मस्तिष्क का अपरिहार्य न्यूनाधिक योग रहता है।

भावपक्ष काव्य की आत्मा है और कलापक्ष उसका अलङ्कृत परिधान। जब किसी काव्य मे भावपक्ष की प्रधानता कही जाती है तो उसका यही तात्पर्य होता है कि उसमे हृदयपक्ष रसाभिव्यजना-प्रमुख है, और जब कलापक्ष की प्रधानता कही जाती है तो उसका तात्पर्य अभिव्यक्ति के माध्यम—भाषा, अलकार आदि—की प्रमुखता से होता है। सफल महाकवियो मे भावपक्ष और कलापक्ष दोनो की सफल अभिव्यक्ति पाई जाती है।

विद्यापति सफल कवि भी है और महाकवि भी। अत इनके काव्य मे यदि भावपक्ष की मजुल पयस्विनी कलकल निनाद करती हुई प्रवाहित है तो कलापक्ष की साज-सज्जा भी है।

भावपक्ष

जैसा कि कहा जा चुका है भावपक्ष से तात्पर्य रसाभिव्यजना से है। विद्यापति प्रमुख रूप से शृगार के ही कवि है, वैसे इनकी पदावली मे इतर रस भी मिलते हैं, परन्तु उनका विशेष महत्त्व नही है। इन्होने शृगार के दोनो रूपो—सयोग और वियोग—का विस्तृत वर्णन किया है जो बहुत ही स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी है। इनके काव्य मे मस्तिष्क हृदय के सिर पर चढ कर कही नही बोलता है। यदि सयोग के सुखद चित्रो के सौन्दर्यपूर्ण वर्णन अत्यत सजीव हैं तो विरह का चित्रण भी कम मर्मस्पर्शी नहीं है।[1]

कलापक्ष

कलापक्ष से तात्पर्य अप्रस्तुत विधान, अलकार-योजना और भाषा से है।

१- पूर्ण परिचय के लिए 'शृगाररस' शीर्षक देखिए

विद्यापति का कलापक्ष भी भावपक्ष की तरह पूर्ण और समृद्ध है। ये काव्यशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे अतः इनके कलापक्ष में सभी शास्त्रीय विशेषताएं प्राप्य हैं। इतना अवश्य है कि इनका कलापक्ष भावपक्ष का बाधक नहीं, साधक है। अब संक्षेप में, इनके अप्रस्तुत विधान, अलंकार-योजना और भाषा पर विचार करना आवश्यक है।

अप्रस्तुत विधान

काव्य में जिनका वर्णन होता है, जो लक्ष्य होते हैं, जो अभिप्रेत रहते हैं, उन्हें प्रस्तुत कहते हैं। इनके अतिरिक्त और सब कुछ अप्रस्तुत हैं; अर्थात काव्य के विषय को अधिक ग्राह्य बनाने के लिए जो विधि-विधान होता है वह अप्रस्तुत कहलाता है। अप्रस्तुत दो प्रकार के होते हैं—वास्तविक अप्रस्तुत और कल्पनाप्रसूत अप्रस्तुत। जो लोक में संभव है वे वास्तविक अप्रस्तुत हैं और जिनकी लोक में कोई सत्ता नहीं है वे कल्पनाप्रसूत अप्रस्तुत हैं। कल्पनाप्रसूत अप्रस्तुत का सफल प्रयोग प्रत्येक कवि के द्वारा संभव नहीं, उसके लिए असाधारण काव्य-प्रतिभा अपेक्षित है।

इन दोनों प्रकार के अप्रस्तुतों पर यदि अलंकारों की दृष्टि से विचार किया जाय तो वास्तविक अप्रस्तुत का क्षेत्र उपमा है और कल्पनाप्रसूत का उत्प्रेक्षा। समर्थ कवि ही इन क्षेत्रों के प्रति जागरूक रहे हैं, अन्यथा कवियों ने प्रायः इन क्षेत्रों पर ध्यान नहीं दिया। और आज के काव्य का तो कहना ही क्या, जहाँ छंद के बंध और अनुप्रास के रजत पाश खुल चुके हैं। विद्यापति के काव्य में इस सूक्ष्म भेद का परिपालन हुआ है। यथा—

वास्तविक अप्रस्तुत—

> "अम्बर विघट्ट अकामिक कामिनि
> कर कुच झाँपु सुछन्दा।
> कनक-सम्भु सम अनुपम सुन्दर
> दुई पंकज दस चन्दा॥"

इन पंक्तियों में नायिका के सुन्दर हाथों की उपमा स्वर्ण के शिव से दी गई है। लोक में शिव की स्वर्ण प्रतिमा संभव है। अतः यह वास्तविक अप्रस्तुत है और इसे उपमा के क्षेत्र में रखा गया है।

कल्पनाप्रसूत अप्रस्तुत—

> "सुन्दर वदन सिंदुर बिन्दु सामर चिकुर भार।
> जनि रवि-ससि संगहि ऊगल पाछ कय अंधकार॥"

इन पंक्तियों में केवल सौंदर्य का वर्णन किया गया है। सुन्दर मुख उस पर सिंदूर का टीका, फिर काले काले बालों का संभार। ऐसा प्रतीत होता है मानो अन्धकार को पीछे धकेल कर सूर्य और चन्द्रमा साथ साथ उग आये हों। सूर्य और चन्द्रमा का एक

साथ उगना लोक मे सम्भव नही, इसलिए यह कल्पनाप्रसूत अप्रस्तुत है और इसके लिए उत्प्रेक्षा का प्रयोग किया गया है।

अप्रस्तुतों का प्रयोग दो प्रकार से होता है—सादृश्य के आधार पर और साधर्म्य के आधार पर। साधर्म्य के आधार पर लाए गये उपमान अधिक प्रभविष्णु और मार्मिक होते है। विद्यापति ने प्राय साधर्म्य का आधार ही ग्रहण किया है। यथा—

"पीन पयोधर दूबरी गता।
मेरु उपजल कनक लता॥"

यहाँ नायिका के शरीर की कृशता कनक लता से उपमित है। लता और शरीर का कोई सादृश्य नही है। लता के उपमान से शरीर की कमनीयता ही अभिप्रेत है। कमनीयता लता का धर्म है। इसी प्रकार पयोधरों का उपमान मेरु है। मेरु का कठोरता और उत्तुंगता धर्म है।

अलंकार-योजना

काव्य मे अलकारो की आवश्यकता वैसी ही है जैसी शरीर पर आभूषणो की प्राचीन काल मे अलकारो का प्राधान्य माना जाता था।[1] आगे चलकर लोगों ने यहा तक कह दिया कि काव्य अलकार के कारण ग्राह्य होता है। उन्होने अलकारो को बाह्य आभूषण न मानकर सौन्दर्य माना।[2] कुछ लोग तो यहाँ तक कहने लगे कि काव्य मे जो अलकारो का नित्य ग्रहण नही मानते उनका हठ उसी प्रकार का है जैसे अग्नि को उष्णतारहित कहना।[3] पर काव्य के स्वरूप को समझने वाले अलकारो को हारादिवत् बाह्य आभूषण ही मानते रहे। उन्होंने अलकारो को काव्य का अस्थिर धर्म ही माना।[4] जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर पर आभूषण न रहने पर भी उसका अस्तित्व रहता है, उसी प्रकार अलकार का प्रयोग न होने पर भी काव्य रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि अलकार काव्य का गौण उपादान है, मुख्य नही।

अलंकार के दो भेद माने गये हे—शब्दालकार और अर्थालकार। शब्दालकार शब्दगत अर्थात् स्थूल बाह्य चमत्कार को लेकर चलते हैं और अर्थालकार भावधारा को गहनतर और प्रभावोत्पादक बनाते है। विद्यापति के काव्य मे दोनो प्रकार के अलकारो का ही सफल प्रयोग है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि की भावधारा में

१. अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्—अलकार सर्वस्व
२. काव्य ग्राह्यमलकारात्। सौन्दर्य मलकार—काव्यालकार सूत्र वृत्ति
३. अगी करोति य काव्य शब्दार्थावनलकृती,
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनल कृती—चन्द्रालोक
४. काव्य प्रकाश।

अलंकार स्वतः बढ़ते चले आते हैं। अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विरोधाभास, यथासंख्य, व्यतिरेक, पर्यायोक्ति, एकावली, असंगति, विशेष, तद्गुण आदि का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। पदावली में आए हुए इनके उदाहरण देखिए—

उपमा— "पल्लवराज चरण-युग सोभित
गति गजराज क भाने।
कनक कदलि पर सिंह समारल
तापर मेरु समाने।"

उत्प्रेक्षा— "ता अरुभायल हारा।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल
चांद विहिनु सब तारा।"

अतिशयोक्ति— "कि आरे! नब जौवन अभिरामा।
जत देखल तत कहए न पारिअ
छओ अनुपम एकु ठामा॥"

विरोधाभास— "मेरु ऊपर दुइ कमल फुलाएल।
नाल बिना रुचि पाई।"

यथासंख्य— "हरिन इन्दु अरविन्द करिनि हेम
पिक बूझल अनुमानी।
नयन बदन परिमल गति तन रुचि
अओ अति सुललित बानी।"

व्यतिरेक— "लोल कपोल ललित मनि कुंडल
अधर बिम्ब अध जाई।
भौंह भ्रमर नासापुट सुन्दर
से देखि कीर लजाई।"

पर्यायोक्ति— "हृदय क वेदन वान सयान।
आन क दुःख आन नहि जान।"

एकावली— "सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज
की सरसिज बिनु सूरे।
जौवन बिनु तन तन बिनु जौवन
की जौवन पिय दूरे॥"

असंगति— "मनमथ तोहे की कहव अनेक।
दिठि अपराध परान पए पीड़सि
ते तुअ कौन विवेक॥"

विशेष— "कनक-लता जनि संचर रे
महि निर अवलम्ब ।
ता पुन अपुरुब देखल रे ।
कुच-जुग अरविन्द ॥"

तद्गुण— "अनुखन माधव माधव सुमरइत
सुन्दरि भेल मधाई ।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल
अपने गुन लुबुधाई ॥"

इनके अतिरिक्त और भी अनेक अर्थालंकार विद्यापति की पदावली में मिलते हैं।

अर्थालंकारों की भांति शब्दालंकारों का भी विद्यापति ने सफल प्रयोग किया है। प्रायः खिलवाड़ मात्र के लिये ही कवियों ने शब्दालंकारों के प्रयोग किये हैं, किन्तु विद्यापति ने इन्हें भावोत्कर्ष के लिए प्रयुक्त किया है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक और श्लेष के प्रति कवि का विशेष मोह परिलक्षित होता है। इनके उदाहरण देखिए—

— "नन्द क नन्दन कदम्ब क तरुतर
धिरे धिरे मुरलि बजाव ।
समय संकेत-निकेतन बइसल
बेरि-बेरि बोलि पठाव ॥"

यमक— "सारंग नयन बयन पुनि सारंग
सारंग तसु समधाने ।
सारंग ऊपर उगल दस सारंग
केलि करलि मधुपाने ॥"

श्लेष— "तड़ित-लता तल जलद समारल
आंतर सुरसरि धारा ।
तरल तिमिर ससि सूर गरासल
चौदिस खसि पडु तारा ॥"

विद्यापति के शब्दालंकार भाव-सृष्टि में समर्थ हैं। अनुप्रास का प्रयोग तो मानो पदावली का प्राण ही है और इसके द्वारा कवि ने प्रायः संगीतात्मकता की मधुरतम तरंगों को तरंगित किया है, साथ ही ध्वनि-चित्र भी साकार हो उठा है। यथा—

"किंकिन किनि किनि कंकन कनकन
घन-घन नूपुर बाजे ।
रति रन मदन पराभव मानल
जय जय डिम डिम बाजे ॥"

इन कतिपय उदाहरणों से ही यह प्रतीत हो जाता है कि विद्यापति का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। अलंकार इनके हाथों की कठपुतलियाँ थे, जिनका मनचाहा परन्तु भावप्रवण प्रयोग विद्यापति ने अपने काव्य में सर्वत्र किया है। यही इनकी सफलता का रहस्य है। पं० शिवनन्दन ठाकुर का यह कथन यथार्थ ही है—

"गहना पहन कर कुरूप नारियाँ भी सुन्दरी मालूम पड़ती हैं। सुन्दरी नारियों के गहने तो सोने में सुगन्ध का काम करते हैं। विद्यापति की श्रुतिमधुर कविता अलंकार से सुसज्जित होकर किस पद-प्रेमी पाठक का मन नहीं हर लेती है?"

वाग्वैदग्ध्य और उक्ति-वैचित्र्य

वाग्वैदग्ध्य का अर्थ वाणी की अभिव्यंजना शक्ति और उक्ति-वैचित्र्य का अर्थ किसी बात को स्पष्ट करने की युक्ति या किसी मुद्रा, रूप आदि को अपनी निरीक्षण शक्ति से निरूपित करने की सामर्थ्य है।

विद्यापति का वातावरण राजसी था जिसमें शृङ्गार की मधुर निर्झरिणी सब ओर से कल-कल निनाद करती हुई बहती थी। विद्यापति इस निनाद में आत्मविभोर होकर डूबे, इसमें कोई संदेह नहीं, परन्तु इनकी सीमा यहीं तक बंधी न रह सकी। ये इससे ऊपर भी उबरे और जग-जीवन को व्यापक दृष्टि से देखा, उनके गूढ़तम रहस्यों के गहरे आवरणों में भी झाँका। यही कारण है कि विद्यापति के काव्य में शृंगार-रस की अबाध धारा के साथ-साथ जग-जीवन के सुन्दरतम सत्यों का भी प्रकटीकरण हुआ है। इनका काव्य वाग्विलासों और उक्तियों की विचित्रता से भरा पड़ा है। दूत-और सखी-संभाषण में वाग्विलास के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

दूती राधा को कृष्ण की ओर आकर्षित करना चाहती है, लेकिन इससे पहले उसे राधा का विश्वास प्राप्त करना अनिवार्य है। निम्नलिखित पंक्तियों में वह स्वयं को राधा की परम हितैषिणी सिद्ध करना चाहती है और हितैषी के प्रति किसका विश्वास सजग नहीं हो उठता—

**"ए धनि कमलिनि सुनु हित बानि।
प्रेम करबि जब सुपुरुष जानि।।
सुजन क प्रेम हेम समतूल।
दहइत कनक दिगुन होय मूल।।"**

इस प्रकार वह राधा को कृष्ण के अनुकूल बना देती है। फिर वह कृष्ण के पास जाती है और उसे राधा के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करती है। दोनों ओर आग लगाना ही दूती का कार्य है। वह कृष्ण से राधा का विरह-वर्णन करती हुई कहती है—

१. महाकवि विद्यापति, पृष्ठ १४

"लोटइ धरनि; धरनि धरि सोई।
खने खने सांस खने खन रोई॥
खने खन मुरछई कंठ परान।
इथि पर की गति दैव से जान॥"

इन पंक्तियों में राधा की विरह-व्यथित अवस्था का वर्णन करते हुए अन्त में यह कहना कि 'परमात्मा ही जाने, इसके बाद उसकी क्या गति हुई होगी,' पत्थर दिल को भी पिघलाने में समर्थ है। यही तो अवसरोचित वाग्विलास है। परिणामत राधा और कृष्ण परस्पर अनुरक्त हो ही जाते हैं।

सखी-सम्भाषण में सखी जिस चतुरता और कौशल से राधा के मुख से उसकी रति-क्रिया का वर्णन करवा लेती है, वह साधारण काम नहीं है। वाग्वैदग्ध की यही तो विशेषता है।

उक्ति-वैचित्र्य की भी पदावली में कमी नहीं। एक से एक सुन्दर उक्तियाँ इसमें भरी पड़ी है। उदाहरणार्थ कतिपय देखिये——

१. "जकर हिरदय जतहि रतल
 से धसि ततही जाए।
 जइयो जतने बाँधि निरोधिए
 निघन नीर थिराए।"
२ "असमय आस न पूरए काम।
 भल जन कर न बिरस परिनाम।"
३. "भल जन करथि पर क उपकार।"
४. "भनइ विद्यापति सखि कह सार।
 से जीवन ' पर उपकार।"
५ "भनइ विद्यापति बजवहु बाद।
 बड अपराध मौन पए साध।"
६. "माँगि लायब वित से जदि हो नित
 अपन ' करब कोन काज।"
७ "भनइ विद्यापति भान रे।
 सुपुरुष न कर निदान रे।"
८. "जे बन रतल जाहि सौं सजनी
 कि करत बिहि भए बाँक।"
९. "धनिक आदर सब तहँ होय।
 निरधन बापुर पुछय न कोय।"

१०. "अपन करम-दोष अपहि भुंजइ
जे जन पर-बस होई।"

और सबसे अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि विद्यापति ने इन रहस्यों का प्रकाशन शृंगार रस के माध्यम से किया है जो दर्शन अथवा नीतिशास्त्र की चिन्तन-शील और नीरस पृष्ठभूमि से अधिक मार्मिक और प्रभावशाली है।

भाषा

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से पूर्वीय भाषाओं की मूल मागधी भाषा है। उसी के विकास से ये चार शाखायें उत्पन्न हुईं—

१. पूर्वी-दक्षिणी शाखा—उड़िया
२. उत्तर-पूर्वीय शाखा—असमिया या आसामी
३. मध्य शाखा—मैथिली, मगही, बंगाली
४. पश्चिमी शाखा—भोजपुरी

इन भाषाओं में मैथिली का स्वतंत्र और महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए पं० शिवनंदन ठाकुर कहते हैं—

"अपभ्रंश-युग से ही मैथिली स्वतंत्र अस्तित्व रखती है और चौदहवीं शताब्दी तक इसमें गद्य, पद्य तथा नाटक की रचना हो चुकी थी, अर्थात् यह पूर्ण विकसित अवस्था में थी। हिंदी में उस समय गद्यरचनाशैली निर्धारित नहीं हुई थी। नाटक की रचना तो कई शताब्दियों के बाद हुई है। उस समय हिंदी-संसार शृंगार-रस की कविता से भी अपरिचित था...ब्राह्मण युग में ही मिथिला की उन्नति इस चरम सीमा तक पहुंच गई थी कि मध्यदेश को भी नतमस्तक होना पड़ता था। यह उन्नति बराबर जारी रही और परिणाम यह हुआ कि मिथिलापभ्रंश भाषा—अवहट्ठ में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई और विद्यापति के समय तक मैथिली की सर्वतोमुखी उन्नति हुई।"[1]

यहां पर एक प्रश्न का समाधान आवश्यक है। प्रश्न यह है कि मैथिली हिन्दी भाषा की ही शाखा है अथवा इससे पृथक् है? आचार्य रामचंद्र शुक्ल और डा० श्यामसुन्दरदास मैथिली और हिन्दी में अपार्थक्य मानते हैं। आचार्य शुक्ल का कथन है—

"खड़ी बोली बांगड़ू, ब्रज, राजस्थानी, कन्नौजी, बैसवारी, अवधी इत्यादि में रूपों और प्रत्ययों का परस्पर इतना भेद होते हुए भी सब हिन्दी के अन्तर्गत मानी जाती हैं...कारण है शब्दावली की एकता। अतः जिस प्रकार हिन्दी साहित्य 'बीसलदेव रासो' पर अपना अधिकार रखता है, उसी प्रकार विद्यापति की पदावली पर भी।"[2]

डा० श्यामसुन्दरदास का मन्तव्य है—

१. महाकवि विद्यापति, पृष्ठ २४८-४९
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास

"यद्यपि बंगला और उड़िया की भाँति बिहारी भाषा भी मागध अपभ्रंश से निकली है, तथापि अनेक कारणों से इसकी गणना हिन्दी में होती है। इस भाषा का हिन्दी के अन्तर्गत माना जाना इसलिए ठीक है कि बंगला, आसामी और उड़िया आदि की भाँति इसमें 'स' का उच्चारण 'श' नहीं होता, बल्कि शुद्ध 'स' होता है।"[1]

डा० ग्रियर्सन और पं० शिवनन्दन ठाकुर हिन्दी और मैथिली में पार्थक्य स्थापित करते हैं। पंडितजी का मत ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। अपने मत का प्रतिष्ठापन और शुक्लजी के मत का खंडन करते हुए पंडितजी कहते हैं—

"शुक्लजी के विचारानुसार यदि यह भी मान लिया जाए कि शब्दावली की एकता तथा भाषा का परस्पर समझा जाना ही भाषा की एकता का कारण है, तथापि हिन्दी तथा मैथिली की एकता सिद्ध नहीं होती।"[2]

भाषा-विषयक इस विवाद से क्षुब्ध होकर श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी को लिखना पड़ा—

"विद्यापति की भाषा की दुर्दशा भी खूब हुई है। बंगालियों ने उसे ठेठ बंगला रूप दे दिया है, मोरंग वालों ने मोरंग का रंग चढ़ाया है। बाबू ब्रजनन्दन सहाय जी ने उस पर भोजपुरी की कलई की है और आजकल के मैथिल उस पर आधुनिक मैथिली का रोगन चढ़ा रहे हैं। भगवान् विद्यापति की कोमलकांत पदावली की रक्षा करें।"[3]

हिन्दी-साहित्य में विद्यापति के मूर्धन्य स्थान ने इस विवाद को अब शक्तिहीन-सा कर दिया है। ये आज हिन्दी के आदि कवि माने जाते हैं। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में—

"हिन्दी साहित्य की जब भी ऐतिहासिक प्रमाणों से ही छानबीन की जायगी तो यह निष्कर्ष आज नहीं तो कल हिन्दी-साहित्य के इतिहासज्ञों को निकालना ही पड़ेगा कि हिन्दी-साहित्य की परम्परा की दृष्टि से विद्यापति उसके आदि कवि हैं।"[4]

पदावली की भाषा भाषा के सर्वगुणों से समन्वित है। इसका विश्वास विद्यापति को भी था, तभी तो इन्होंने कहा है—

"बालचंद विज्जावइ भाषा।
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा॥
ओ परमेसर हर सिर सोहइ।
ई निच्चय नाअर मन मोहइ॥"[5]

---

१. हिन्दी साहित्य
२. महाकवि विद्यापति, पृष्ठ २५१
३. विद्यापति की पदावली : भूमिका, ३७
४. विद्यापति : भूमिका, पृष्ठ ११
५. कीर्तिलता

भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है। अतः इसकी सर्वप्रमुख विशेषता अभिव्यक्ति की क्षमता है। विद्यापति की भाषा में यह विशेषता उपलब्ध है। अलंकार, गुण, वृत्ति, रीति आदि सभी का इनकी भाषा में समुचित प्रयोग है। विद्यापति की भाषा की मुख्य विशेषताएं ये हैं :—

१. सफल भावाभिव्यक्ति

भाषा का कर्म भावों की अभिव्यक्ति करना है। भाषा के लिए भावाभिव्यक्ति साध्य है और अलंकारादि साधन। जहाँ साधन साध्य हो जाता है वहाँ कलापक्ष प्रधान हो जाता है। कलापक्ष में मस्तिष्क को चमत्कृत करने की क्षमता भले ही हो, हृदय को आंदोलित करने की शक्ति का अभाव ही होता है। विद्यापति की भाषा में इन दोनों का अप्रतिम समन्वय है। यही समन्विति भाषा की पूर्णता है। अतः विद्यापति की भाषा पूर्ण है। उसमें भावों को प्रकट करने की यथेष्ट शक्ति है। विरहिणी राधा के इन शब्दों को देखिए—

"काक भाख निज भाखह रे
पहु आओत मोरा।
क्षीर खाँड़ भोजन देब रे
भरि कनक कटोरा॥"

इन शब्दों में राधा के माध्यम से विरहिणी नारी-जाति का हृदय बोल उठा है जिसमें प्रिय से मिलन की उत्कट इच्छा तो है ही, स्वभाव की सरलता भी सन्निहित है। इन चार पंक्तियों के विश्लेषण में ग्रन्थ के ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं।

गीतावली में बैठी शकुन मनाती कौशल्या काग को अपनी बोली फलित हो जाने पर सोने से चोंच मढ़ाये तथा दूध-भात खिलाने का आश्वासन देती है—

"बैठी सगुन मनावती माता
कब ऐहै मेर बलि कुसल घर कहहु काग फुर बाता
दूध भात की दोनी देहों सोने चोंच मढ़ैहों।"[१]

२. चित्रमयता

सफल कवि शब्दों के संबल पर भावों का चित्र प्रस्तुत कर देते हैं; अर्थात् कवि की कल्पना साकार होकर पाठकों अथवा श्रोताओं की आंखों में झूलने लगती है। विद्यापति की भाषा इस गुण से समन्वित है। यथा—

"चिकुर गरए जलधारा।
जनि मुख-ससि डर रोअए अंधारा।
कुच-जुग चारु चकेवा।
निअकुल मिलिअ आनि कोन देवा।

---

१. तुलसी ग्रंथावली दूसरा खंड, पृष्ठ ४०५, पद १६

ते सका भुज पासे—
बांधि धएल उड़ि जाएत अकासे ।''

इन पंक्तियों में सद्य-स्नाता का सजीव चित्र है जिसके केशों से पानी चू रहा है और जिसने लज्जावशात् अपने दोनों हाथों से कुचों को छिपा रक्खा है ।

३ अनुरणात्मकता

शब्दों के द्वारा ध्वनि उत्पन्न करना ही अनुरणात्मकता है । केवल महाकवियों की भाषा में ही यह विशेषता मिलती है । पदावली का एक उदाहरण देखिए—

''किंकिन किन किन कंकन कनकन
घन घन नूपुर बाजे ।''

यहां किंकिणी, कंकण और नूपुरों की ध्वनियों का ध्वन्यात्मक चित्रण है और इनकी ध्वनियों का पार्थक्य भी दर्शित है ।

४ संगीतात्मकता

संगीतात्मकता तो विद्यापति की भाषा के प्राण है । कोमलकांत पदावली शृंगार रस के नितांत अनुकूल है जिन्हें लय के रेशमी धागों से अत्यन्त कौशल के साथ जोड़ा गया है । भाषा में कहीं भी न तो कर्कशता है और न अवरुद्धता । यह संगीत शास्त्रीय विधानों का नहीं, धड़कनों की स्वाभाविक थिरकनों का है । पदावली में ये थिरकनें आद्यान्त हैं । उदाहरणार्थ—

''अखिल लोचन तम-ताप-बिमोचन
उदयति आनन्दकन्दे ।
एक ललिनि-मुख मलिन करए जदि
इयै लागि निन्दह चन्दे ।''

इन पंक्तियों का संगीत संगीतावतार जयदेव की निम्नोद्धृत पंक्तियों से कितना साम्य रखता है—

''मदन महीपति कनक दण्ड रुचि केशर कुसुम विकासे ।
मिलित शिलीमुख पाटल पटल कृत स्मरतूण विलासे ।।''[१]

विद्यापति की संगीतात्मकता भावों को उत्कर्षता प्रदान करती है । भावों की मार्मिकता इनकी लयों में साकार होकर अत्यन्त मार्मिक और हृदयग्राह्य बन जाती है जिसका विवेचन पीछे दिया जा चुका है ।[२]

५. शब्द-शक्ति

शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना ये तीन शक्ति मानी जाती हैं । उत्तम

१. गीतगोविंद
२. देखिए—विद्यापति की गीति-कला

काव्य वही है जिसमें व्यंजना शक्ति हो अर्थात् अर्थ व्यंग्य हो—

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः"[1]

अर्थात् यदि व्यंग्य अर्थ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारपूर्ण हो तो वह उत्तम काव्य कहलाता है और उसीका नाम ध्वनि है।

विद्यापति की पदावली में व्यंग्यार्थबोधक पदों की कमी नहीं है। उदाहरण के लिए केवल कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत है—

"कह धह कह मोहे पारे
देब में अपरूब हारे, कन्हैया।
सखि सब तेजि चलि गेली
न जान कोन पथ भेली, कन्हैया।
हम न जाएब तुग्र पासे
जाएब औघट घाटे, कन्हैया।"

अभिधेयार्थ तो यह है कि राधा अपनी परिस्थिति बताती हुई कृष्ण से उसे यमुना पार कराने की प्रार्थना कर रही है। वह कहती है कि हे कन्हैया, मेरा हाथ पकड़िए और मुझे उस पार पहुँचा दीजिए। इसके लिए मैं तुम्हें अपूर्व हार दूँगी। सारी सखियाँ न जाने किस मार्ग से मुझे अकेली छोड़कर चली गई हैं। मैं तुम्हारे पास नहीं जाती, मुझे तो औघट घाट जाना है।

इसका व्यंग्यार्थ यह है कि भारतीय विधान के अनुसार नारी का हाथ पकड़ने का अधिकार केवल पति को है। राधा अपना हाथ कृष्ण के हाथ में देने की प्रार्थना करती है। इस प्रार्थना में उसका पत्नीवत् आत्मसमर्पण है। हार प्रदान का अर्थ स्मृति को सदैव सजग बनाये रखने का साधन है। सखियों का अज्ञात मार्ग से छोड़कर चली जाने से राधा का एकाकीपन ध्वनित है और औघट घाट से तात्पर्य निर्जन स्थान से है जहाँ किसी प्रकार का भय न रखकर आनंदपूर्वक रति-क्रीड़ा की जा सके।

विद्यापति की ये पंक्तियाँ बरबस बिहारी के इस दोहे की याद दिला देती हैं—

"घाम घरीक निवारियै कलित ललित अलि पुंज।
जमुना-तीर-तमाल-तरु-मिलित मालती-कुंज।"[2]

लोकोक्तियाँ और मुहावरे

लोकोक्तियाँ और मुहावरे भाषा की अभिव्यंजना शक्ति को द्विगुणित कर देते हैं। लोकोक्तियों का विधान कवि का लोक-भाषा पर पूर्ण अधिकार का सूचक है। विद्यापति के पदों में लोकोक्तियों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। यथा—

---

१. काव्य प्रकाश १।४
२. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ५७

१. "हाथे न मेट पखान क रेहा।"
२. "हाथ क कांगन आरसी काज।"
३. "भमरा भरे मांजरि न भांगे।"
४ "चडेओ भूखल नहि दुहु कओरे खाए।"
५ "आरति गाहक महग बेसाहु।"
६ "कुप न आवए पथिक के पास।"
७ "दूध क माखी दूती भेल।"

मुहावरो के भी कतिपय उदाहरण देखिए—

"नीद भरल अछ लोचन तोर।
कोमल वदन कमल रुचि-चोर।"

× × ×

"बारि विलासिनी केलि न जानथि
भाल अहन उडि गेला।"

× × ×

"अधर दसन देखि जिउ मोरा कांपे
× × ×
लोलुअ वदन-सिरी अछि धनि तोरि।"

इसमे सन्देह नही कि विद्यापति का महत्त्व अपने इसी काव्य-सौष्ठव के कारण है। एक-आध पद को छोडकर इनके पदो मे क्लिष्टता का कही नाम नही है। इनके काव्य-सौष्ठव पर मुग्ध होकर डा० ग्रियर्सन को कहना पडा—

"भले ही हिन्दू धर्म का सूर्य अस्त हो जाय' 'राधा और कृष्ण मे मनुष्यों का विश्वास और श्रद्धा न रहे' तो भी विद्यापति के गीतो के लिए, जिनमे राधा और कृष्ण का उल्लेख है, लोगो को प्रेम कभी कम न होगा!"[1]

अन्त मे, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का मन्तव्य भी उन्ही के शब्दो मे उल्लेख-योग्य है—

"कोकिल की कलकंठता कितनी मधुर, कितनी सरस और कितनी हृदयग्राहिणी होती है, इसका परिचय इसी से मिलता है कि जब संस्कृत के सहृदय विद्वानों को

१. Even when the Sun of Hindu religion is set, when belief and faith in Krishana and in that medicine of disease of existence the hymns of Krishana's love is extict, still the love borne for song of Vidyapati in which he tells of Krishana and Radha will never be diminished.

—Vidyapati and his contemporaries, page, 31.

कविकुलगुरु महर्षि वाल्मीकि की वंदना के लिए जिह्वा खोलनी पड़ी तब उन्होंने यही कहा—

"कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविता-शाखां वन्दे वाल्मीकि-कोकिलम् ॥"

···इसी प्रकार भारती के वरपुत्र विद्यापति की लोकोत्तर रचनाओं का परिचय देने, उनके माधुर्य, प्रसाद, सरसता और मनोमुग्धकारिता की व्याख्या करने के लिए उनको 'मैथिल-कोकिल' कह देना ही पर्याप्त है ।···आपकी कोकिल काकली-कलित मधुमयता, कोमलकांत पदावली, भावुक-हृदयविमोहिनी भावुकता और नव-नव भावोन्मेषिणी प्रतिभा देखकर चित्त विमुग्ध हो जाता है ।"[1]

१. विद्यापति की पदावली, बेनीपुरी, पृष्ठ १

: १२ :

विद्यापति के कृष्ण और राधा

कृष्णकाव्य मे कृष्ण और राधा चिरकाल से नायक-नायिका के रूप मे चले आ रहे हैं। किसी ने इन्हे साधारण नायक-नायिका का रूप दिया है तो किसी ने इन्हे अलौकिकता के परिधान से विभूषित किया है। यहा पर इनकी विकास-परम्परा पर विहंगम दृष्टिपात करके इनके प्रति विद्यापति के दृष्टिकोण का प्रतिपादन अपेक्षित है।

कृष्ण का विकास

भारतीय वाङ्मय मे कृष्ण नाम का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। सर्वप्रथम इसका उल्लेख ऋग्वेद मे मिलता है। ऋग्वेद के अष्टम मडल के रचयिता ऋषि का नाम कृष्ण है। छान्दोग्योपनिषद् मे कृष्ण को देवकी का पुत्र और घोर आगिरस का शिष्य बताया गया है। तत्पश्चात् महाभारत मे इनके प्रमुख रूप से तीन रूप दिखाई पडते हैं——राजनीतिक, अवतारी और विद्वान्। कुरुक्षेत्र मे अर्जुन को दिए गए उपदेश इनके अथाह पाडित्य के प्रमाण हैं।

पाणिनि ने कृष्ण और अर्जुन को देवयुग्म कहा है। उसका अर्थ यह है कि ईसा की चौथी शताब्दी मे कृष्ण को देवत्व का रूप मिल चुका था। प्रसिद्ध विदेशी यात्री मेगस्थनीज ईसा से ३०० वर्ष पूर्व भारत आया था, तब मौर्यों का राज्य था। उस समय भी मेगस्थनीज ने कृष्ण-पूजा का उल्लेख किया है। सभवत कृष्ण-पूजा को उपनिषद् काल मे ही महत्त्व दे दिया गया था। महानारायण उपनिषद् मे विष्णु को वासुदेव कहा गया है। वासुदेव कृष्ण का भी नाम है। अत यहा विष्णु और कृष्ण का समन्वय कर दिया गया।

सर भंडारकर वासुदेव और कृष्ण को भिन्न-भिन्न दो व्यक्ति मानते हैं। उनका कथन है——

"शात्वत एक क्षत्रिय वश का नाम था जिसे 'वृष्णि' भी कहते थे। वासुदेव उसी शात्वत वश के एक महापुरुष थे और इनका समय ईसा से ६०० वर्ष पूर्व है। उन्होने ईश्वर के एकत्व भाव का प्रचार किया था। उनकी मृत्यु के पश्चात् उसी वश के लोगों ने वासुदेव को ही साकार रूप से ब्रह्म मान लिया है।"

भडारकर के अनुसार नारायण, विष्णु और गोपालकृष्ण वासुदेव के ही रूप हैं।

डा० प्रियसेन भक्ति को ईसायत देन और कृष्ण को क्राइस्ट का रूपान्तर मानते

हैं। यह मन्तव्य सर्वथा निराधार है, क्योंकि कृष्ण का विकास ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व हो चुका था।

कृष्ण के अवतारी रूप का पूर्ण विकास पुराणों में हुआ। हरिवंशपुराण, वायुपुराण और भागवतपुराण में गोपालकृष्ण की कथाओं का विस्तार है। हरिवंशपुराण में कृष्ण को गोपियों से संबद्ध कर दिया गया। विष्णुपुराण, पद्मपुराण और वायुपुराण में भी कृष्ण की कथा संक्षेप में वर्णित है, किन्तु ब्रह्मवैवर्तपुराण में इसका विस्तार है।

कृष्ण की लीलाएं

कृष्ण की लीलाओं की उत्पत्ति कृष्ण और गोपियों के संबंध से संबद्ध है। संभवतः आभीरों के द्वारा इन लीलाओं को प्रोत्साहन मिला, क्योंकि उनमें बालगोपाल की पूजा प्रचलित थी। कुछ पाश्चात्य और भारतीय विद्वान् आभीरों को विदेशी मानते हैं, पर उनका यह मत निराधार है। कृष्ण और गोपियों की लीलाओं का स्रोत कोई बाह्य धर्म और देश नहीं। भारतीय साहित्य में इनका उल्लेख ईसा से भी कई सौ वर्ष पूर्व से ही मिलता है। भास के नाटकों में कृष्ण-लीलाओं का उल्लेख है। श्री जायसवाल के अनुसार भास का समय ईसा से कई सौ वर्ष पहिले का है। वेदों में कई स्थानों पर राधा, गोपा, अहि, वृषभानु, रोहिणी, कृष्ण और अर्जुन शब्द आए हैं। यद्यपि ये नाम ऐतिहासिक व्यक्तियों के नहीं, पर उनके नामों के आधार अवश्य हैं।

भक्ति के द्वितीय और तृतीय उत्थानकाल में कृष्ण का अवतारी और अलौकिक चरित्र मिलता है, किन्तु भक्ति के तृतीय उत्थानकाल में इनके रूप में अन्तर आ जाता है।

"कृष्ण के साथ लीलाओं का संबंध जुड़ता है। वेद में आये गोप और ब्रज शब्द को लेकर गोप-लीला प्रारंभ होती है। सूतों की कल्पना के द्वारा इस गोप-लीला का संबंध कृष्ण के बाल्यकाल से कर दिया जाता है। गोप-लीला का दार्शनिक पक्ष है। मानव की चित्तरंजिनी वृत्ति को ही गोप-लीला के नाम से घोषित किया गया। गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाएँ इसी चित्तरंजिनी वृत्ति का विकसित रूप हैं। इन लीलाओं के लिए प्रकृति की सुरम्य गोद को चुना गया। कृष्ण की मुरली और मंद-मंद हास से संपूर्ण चराचर विमुग्ध हो गया। विष्णुपुराण तक यह गोप-लीला ही थी और उसमें अत्यन्त पवित्र भावना के साथ ही उसका चित्रण था। हरिवंशपुराण में इन लीलाओं और क्रीड़ाओं का वेग तीव्र हो जाता है। श्रीमद्भगवत् में इसका रूप और प्रखर है, किन्तु वैवर्तपुराण में राधा के आने से इन लीलाओं में एक और अपूर्व शक्ति आ गई। प्रकृति और पुरुष की कल्पना भी हुई। प्रेम और अनुराग की मूर्ति राधा के आने से भक्ति तरंगिनी में लहर पर लहर आने लगी। जन-समाज आनंदातिरेक में थिरक उठा। भक्ति की इस आनंददायिनी त्रिवेणी में स्नान के लिए जनता में भगदड़ मच गई और देखते-देखते भारतवर्ष का कोना-कोना इस रस से मग्न हो गया।"

विद्यापति के कृष्ण

विद्यापति की पदावली में रहस्यवाद का दर्शन करने वाले विद्वानों को भले ही इनके कृष्ण में अलौकिक तत्व दिखाई देते हों, किन्तु वस्तुतः इनके कृष्ण एक सामान्य शृंगार-रसाभिभूत नायक ही हैं जो इनकी पदावली के प्रथम पद में ही 'समय संकेत-निकेतन' में बैठकर अत्यन्त व्याकुलता के साथ राधा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जयदेव के कृष्ण की भाँति ये भी दक्षिण नायक हैं और राधा को हर प्रकार से प्रसन्न करके उसका सहवास चाहते हैं।

पदावली के पदों को देखकर इसमें तनिक संदेह नहीं रह जाता कि विद्यापति की दृष्टि में कृष्ण एक प्रेमी और शृंगारी जीव के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। तभी तो ये राधा का रूप वर्णन करते समय उन्हें उकसाते हैं—

१. "भनई विद्यापति सुनउ मुरारि।
सुपुरुख विलसए से बर नारि।"

२. "विद्यापति कह सुनु वर कान।
तरुनिम सैसव चिन्हइ न जान।"

३. "विद्यापति कह सुनह मुरारि।
बसन लागल भाव रूप निहारि।"

इतना उकसाये जाने पर कृष्ण का मन तरंगित हो ही उठता है। उन्हें एक दिन अकस्मात् राधा का साक्षात्कार हो जाता है और दोनों के हृदयों पर काम के बाण लग जाते हैं। फिर तो कृष्ण को राधा के पास अपनी दूती ही भेजनी पड़ती है जो वाग्विलास से राधा को कृष्ण के अनुकूल करने में सफल होती है। रास्ते में रोक-टोक होने लगती है—

"कुंज-भवन सयँ निकसलि रे,
रोकल गिरिधारी।"

इसके बाद, मिलने के जो चित्र विद्यापति ने प्रस्तुत किए हैं, उनमें तो कृष्ण का रूप एकदम कामी जन का है—

"अधर मँगइते अओंध कर माथ।
सहए न पीर पयोधर हाथ॥
बिघरल नीबी कर धर जाँति।
अकुरल मदन, धरए कत भाँति॥"

कृष्ण में दक्षिण नायक के गुण हैं। दक्षिण नायक वह होता है जो पर-स्त्री से प्रेम करके भी उसे छिपा लेता है। कृष्ण का चातुर्य भी देखिए—

"सुन सुन सुन्दरि कर अवधान।
बिनु अपराध कहसि काहे आन॥

पूजलों पसुपति जामिनि जागि।
गमन विलम्ब भेल तेहि लागि।"

विलंब होने का कितना अच्छा बहाना है। दक्षिण नायक झूठी शपथ खाने से भी कभी नहीं हिचकिचाता। कृष्ण भी ऐसा ही करते हैं—

"ए धनि माननि करह संजात।
तुअ कुच हेम-घट हार भुजगिनि,
ताक ऊपर धर हात।
ते हे छोड़ि जदि हम परसब कोय।
तुम हार-नागिन काटब मोय।"

कृष्ण का विरह भी उनकी शृंगारी भावना का ही द्योतक है—

"से बिनु राति दिवस नहि भावए
ताहि रहल मन लागी।
आन रमनि सयँ राज सम्पद माय
आछिए जइसे विरागी।"

शृंगारी कवि विद्यापति के कृष्ण का स्वरूप निर्धारित करते हुए 'गीतिकार विद्यापति' के लेखक के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—

"पदावली के कृष्ण को इष्टदेव मानकर उनके प्रति पवित्र भावनाएँ नहीं हो सकतीं। कृष्ण यौवन से उन्मत्त एक नायक के रूप में ही दिखाई देते हैं। उनका राधा के प्रति जो प्रेम है वह आध्यात्मिक प्रेम नहीं, वरन् भौतिक प्रेम का विस्तृत वर्णन है। वह सौन्दर्य के उपासक हैं, पार्थिव प्रेम के पुजारी और शारीरिक विलास में रत रहने वाले नायक हैं।"[1]

राधा का विकास

कृष्णकाव्य में शृंगार-रस की जो मधुर एवं अबाध धारा प्रवाहित हुई है, उसमें राधा का योगदान अद्वितीय है। कृष्णभक्त कवियों ने राधा को मनचाहे भिन्न-भिन्न रूपों में चित्रित किया है, किन्तु इन विभिन्न रूपों के चित्रण से इनका महत्त्व कुछ बढ़ा ही है, घटा नहीं।

जो राधा कवियों के स्वरों में शताब्दियों से थिरक बनकर थिरक रही है, उसका विकास क्या है? यह प्रश्न जितना स्वाभाविक है, इसका समाधान उतना ही आवश्यक है।

यह सत्य है कि कृष्ण और राधा एक-दूसरे के पूरक हैं, किन्तु यह भी सत्य है कि राधा का विकास कृष्ण की अपेक्षा बहुत समय पश्चात् हुआ। सर्वप्रथम राधा का संकेत भागवतपुराण में मिलता है, किन्तु वहाँ राधा संज्ञा न होकर एक गोपी का ही

१. गीतिकार विद्यापति, पृष्ठ ४१

विद्यापति के कृष्ण

विद्यापति की पदावली में रहस्यवाद का दर्शन करने वाले विद्वानों को भले ही इनके कृष्ण में अलौकिक तत्त्व दिखाई देते हों, किन्तु वस्तुत. इनके कृष्ण एक सामान्य शृंगार-रसाभिभूत नायक ही हैं जो इनकी पदावली के प्रथम पद में ही 'समय सकेत-निकेतन' में बैठकर अत्यन्त व्याकुलता के साथ राधा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जयदेव के कृष्ण की भांति ये भी दक्षिण नायक हैं और राधा को हर प्रकार से प्रसन्न करके उसका सहवास चाहते हैं।

पदावली के पदों को देखकर इसमे तनिक सदेह नही रह जाता कि विद्यापति की दृष्टि मे कृष्ण एक प्रेमी और शृंगारी जीव के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। तभी तो ये राधा का रूप वर्णन करते समय उन्हे उकसाते हैं—

१. "भनई विद्यापति सुनउ मुरारि।
सुपुरुख विलसए से बर नारि।"
२. "विद्यापति कह सुनु बर कान।
तरुनिय संसव चिन्हइ न जान।"
३. "विद्यापति कह सुनह मुरारि।
बसन लागल भाव रूप निहारि।"

इतना उकसाये जाने पर कृष्ण का मन तरंगित हो ही उठता है। उन्हें एक दिन अकस्मात् राधा का साक्षात्कार हो जाता है और दोनों के हृदयों पर काम के बाण लग जाते हैं। फिर तो कृष्ण को राधा के पास अपनी दूती ही भेजनी पड़ती है जो वाग्विलास से राधा को कृष्ण के अनुकूल करने मे सफल होती है। रास्ते मे रोक-टोक होने लगती है—

"कुंज-भवन सयँ निकसलि रे,
रोकल गिरिधारी।"

इसके बाद, मिलने के जो चित्र विद्यापति ने प्रस्तुत किए है, उनमे तो कृष्ण का रूप एकदम कामी जन का है—

"अधर मँगइते अओंध कर माथ।
सहए न पीर पयोधर हाथ॥
बिघटल नीबी कर धर जाँति।
अकुरल मदन, धरए कत भाँति॥"

कृष्ण मे दक्षिण नायक के गुण हैं। दक्षिण नायक वह होता है, जो पर-स्त्री से प्रेम करके भी उसे छिपा लेता है। कृष्ण का चातुर्य भी देखिए—

"सुन सुन सुन्दरि कर अवधान।
बिनु अपराध कहसि काहे आन॥

पूजलौं पसुपति जामिनि जागि।
गयन बिलम्ब भेल तेहि लागि।"

विलंब होने का कितना अच्छा बहाना है। दक्षिण नायक झूठी शपथ खाने से भी कभी नहीं हिचकिचाता। कृष्ण भी ऐसा ही करते हैं—

"ए धनि माननि करह संजात।
तुअ कुच हेम-घट हार भुजंगिनि,
ताक ऊपर धर हात।
ते हे छोड़ि जदि हम परसब कोय।
तुम हार-नागिन काटब मोय।"

कृष्ण का विरह भी उनकी शृंगारी भावना का ही द्योतक है—

"से बिनु राति दिवस नहि भावए
ताहि रहल मन लागी।
आन रमनि सयँ राज सम्पद माय
आछिए जइसे बिरागी।"

शृंगारी कवि विद्यापति के कृष्ण का स्वरूप निर्धारित करते हुए 'गीतिकार विद्यापति' के लेखक के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—

"पदावली के कृष्ण को इष्टदेव मानकर उनके प्रति पवित्र भावनाएँ नहीं हो सकतीं। कृष्ण यौवन से उन्मत्त एक नायक के रूप में ही दिखाई देते हैं उनका राधा के प्रति जो प्रेम है वह आध्यात्मिक प्रेम नहीं, वरन् भौतिक प्रेम का विस्तृत वर्णन है। वह सौन्दर्य के उपासक हैं, पार्थिव प्रेम के पुजारी और शारीरिक विलास में रत रहने वाले नायक हैं।"[1]

राधा का विकास

कृष्णकाव्य में शृंगार-रस की जो मधुर एवं अबाध धारा प्रवाहित हुई है, उसमें राधा का योगदान अद्वितीय है। कृष्णभक्त कवियों ने राधा को मनचाहे भिन्न-भिन्न रूपों में चित्रित किया है, किन्तु इन विभिन्न रूपों के चित्रण से इनका महत्त्व कुछ बढ़ा ही है, घटा नहीं।

जो राधा कवियों के स्वरों में शताब्दियों से थिरक बनकर थिरक रही है, उसका विकास क्या है? यह प्रश्न जितना स्वाभाविक है, इसका समाधान उतना ही आवश्यक है।

यह सत्य है कि कृष्ण और राधा एक-दूसरे के पूरक हैं, किन्तु यह भी सत्य है कि राधा का विकास कृष्ण की अपेक्षा बहुत समय पश्चात् हुआ। सर्वप्रथम राधा का संकेत भागवतपुराण में मिलता है, किन्तु वहाँ राधा संज्ञा न होकर एक गोपी का ही

१- गीतिकार विद्यापति, पृष्ठ ४१

वर्णन है। भागवत के दशम स्कन्ध के तीसवें अध्याय मे एक गोपी का वर्णन है जो कृष्ण को अत्यन्त प्रिय थी। रासलीला के पश्चात् जब कृष्ण अन्तर्द्धान हो जाते हैं तो गोपियाँ उन्हें ढूंढती है। कृष्ण के पदचिन्हो के साथ ही उन्हें नारी के पदचिन्ह भी दिखाई देते हैं। वे कह उठती हैं—

"अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः॥"[1]

अर्थात् उसने अवश्य ही भगवान् हरिरीश्वर (श्रीकृष्ण) की आराधना की है, तभी तो वे हमे छोडकर प्रीतिपूर्वक उसे एकांत मे ले गये हैं। सभवत. यही गोपी आगे चलकर राधा नाम से अभिभूषित हुई हो।

राधा का नाम सर्वप्रथम गाथासप्तशती मे मिलता है जो प्रथम शताब्दी की रचना है। उसका एक श्लोक इस प्रकार है—

"मुहमारुएण त कह्ण गोरअ राहिआएँ अवणेन्तो।
एताणं बलवीण अण्णाणँ वि गोरअं हरसि॥"[2]

अर्थात् हे कृष्ण ! तुम राधा के नेत्रो की धूल अपने मुह की हवा से दूर कर दूसरी स्त्रियो का अभिमान दूर करते हो, या उसके गौरत्व का अपहरण करते हो ?

गाथासप्तशती के पश्चात् तो अनेक ग्रन्थो मे राधा का उल्लेख मिलता है। गाथासप्तशती की राधा की सृष्टि जनता में प्रचलित परकीया नायिका के आधार पर है।

शृ गारिक रूप के अतिरिक्त राधा का एक अन्य रूप और है—धार्मिक। धार्मिक रूप मे राधा पुरुष की शक्ति के रूप मे चित्रित की गई है। इस रूप को सभवत. वाममार्ग से महत्त्व मिला। वाममार्गियो ने नारी को अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया और उसे प्रत्येक साधना का आधार बनाया। कौलधर्म (वाममार्ग की एक शाखा) का मूल तो नारी पर ही आधारित है। जिस पुरुष के बाईं ओर नारी नही, दाहिने हाथ मे मदिरा का प्याला नही, वह कौलधर्म का सच्चा अनुयायी नही। नारी की इस महत्ता के कारण योनि की पूजा का प्रचलन हुआ और कालान्तर मे योनि-पूजा के साथ लिंग-पूजा का भी विधान किया गया। नारी को शक्ति और पुरुष को शिव की सज्ञा दी गई। शाक्त मत से प्रभावित होकर भारत के अनेक धार्मिक सम्प्रदायो ने इसी रूप को ग्रहण किया।

ग्यारहवी शताब्दी मे जयदेव ने राधा के शृ गारिक रूप को ही अपनाया और उसे एक सामान्य नायिका के रूप मे चित्रित किया। चौदहवी शताब्दी मे निम्बार्क और विष्णुस्वामी ने राधा के शृ गारिक रूप मे अलौकिकता का समावेश करके उसे फिर से

---

१. भागवतपुराण, १०।३०।२४
२. गाथासप्तशती, ११८९

धार्मिक रूप दिया। आगे चलकर अष्टछाप के कवियों ने राधा की केलि-क्रीड़ाओं को प्रतीकार्थ देकर वैष्णव-भक्ति में राधा का स्थान उच्च से उच्चतर बना दिया।

विद्यापति की राधा

विद्यापति जयदेव की परम्परा में आते हैं। जयदेव ने अपने काव्य का प्रयोजन यह बताया है—

"यदि हरिस्मरणेसरसं मनो यदि विलासकलासु कुतुहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥"[1]

पर प्रधानता 'विलासकलासु कुतुहलम्' की ही रही है। इसी प्रकार विद्यापति का काव्य भी निश्चय ही नागरों (रसिकों) के मन को मोहने वाला है—

"ई निच्चय नाग्रर मन मोहहि।"

ऐसे काव्य में राधा का सामान्य नायिका के रूप में अवतरित होना स्वाभाविक ही है। विद्यापति की पदावली में प्रतीकार्थ ढूंढ़ने वाले आलोचकों को राधा भले ही अलौकिकता के आवरण में निहित दिखाई दे, पर यह आवरण उनके दुराग्रह की ही परिणति है, अन्यथा विद्यापति की राधा यौवन के भार से युक्त, रूप की कांति से देदीप्यमान और शृंगारिक तरंगों से तरंगित नायिका के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

पदावली का प्रारम्भ ही उस पद से होता है जिसमें कृष्ण राधा की प्रतीक्षा में अत्यन्त व्याकुल हैं और जिसमें विद्यापति उसे कृष्ण से मिलने के लिए प्रेरित करते हैं—

"सामरि, तोरा लागि
अनुखन बिकल मुरारि।"

यहां 'सामरि' शब्द भी विशेष ध्यान देने योग्य है। विद्यापति ने राधा को श्यामा नायिका बताया है। श्यामा का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

"शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे च सुखशीतला।
तप्तकांचनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते।"

यदि पदावली के अन्य पदों को छोड़कर इसी पृष्ठभूमि पर विचार किया जाए तो राधा सामान्य नायिका ही सिद्ध होती है, किसी अलौकिक अर्थ की प्रतीक नहीं।

विद्यापति ने राधा का वर्णन नायिका-भेद के अन्तर्गत ही किया है। वयः संधि में राधा अज्ञात यौवना है—

"मुकुर लई अब करई सिंगार।
सखि पूछइ कइसे सुरत-विहार।
निरजन उरज हेरइ कत बेरि।
हँसइ से अपन पयोधर हेरि।"

---

१. गीतगोविन्द

सखी से सुरत-विहार के विषय में पूछना और निर्जन स्थान पर उरोजों को देखना राधा के चित्त में वासना की गहरी लकीर खींच देते हैं।

नख-शिख वर्णन में भी विद्यापति ने सौन्दर्य के द्वारा वासना की भावनाओं को ही उत्तेजित करने का प्रयास किया है और इस प्रकार राधा को काम-पुत्तलिका बना दिया है। ऐसी यौवनोन्मादिता युवती का स्मरण भी रसिकों के पुण्यों का ही फल है—

"भनइ विद्यापति पुरब पुन तह
ऐसनि भजए रसमन्त रे।"

क्योंकि ऐसी कामिनी का गढ़ लेना विधि के विधान की भी अपूर्वता है—

"जुग जुग के बिहि बूढ़ निरस उर
कामिनि कोने गढ़ ली।"

स्नान करते समय वह देखते ही कामदेव के पाँचों बाणों से मारती है, मुनि-जन के हृदयों में भी काम-सचार करने में समर्थ है, नीवी बंधन के खोलने पर सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाली है। प्रेम-प्रसंग में कृष्ण को देखते ही सुधि-बुधि हीन हो जाती है और गरुड़ से पंख माँगकर कृष्ण के दर्शन करके अपना मनोरथ पूर्ण कर लेना चाहती है। अपनी दूती के द्वारा अपना संदेश कृष्ण के पास भेजती है। वह वाग्विदग्धा भी है। अपना इरादा कृष्ण पर किस प्रकार प्रकट कर देती है—

"आइलि सखि सब साथ हमार।
से सब भेलि निकहि बिधि पार।"
× × ×
"हम अबला कत कहब अनेक।
आइति पड़ले बुझिअ बिबेक।
तोहें पर नागर हम पर नारि।
कांप हृदय तुम प्रकृति बिचारि।"

अपने अकेलेपन की सूचना देकर कृष्ण की (रसिक) प्रकृति से अपने डरने की बात कहना, क्या अर्थ रखता है इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। स्वयं को परस्त्री और कृष्ण को परपुरुष कहना तो इस अनुमान को और भी सरल बना देता है। ऐसी स्थिति में 'दूलह' कवि की यह पंक्ति अत्यन्त सार्थ हो उठती है—

"'हाँ' ते भली 'नाहीं' कही ते सौंहि आई हौ।'"

सखी-शिक्षा में राधा की सखियाँ उसे काम के ही पाठ पढ़ाती हैं। एक सखी कहती है—

"सुनु सुन्दरि नव मदन-पसार।
जनि गोपह आओब बनियार।

रोस दरस कस राखब गोए ।
धएले रतन अधिक मूल होए ।"

क्योंकि—

"आरति गाहक महँग बेसाह ।"

इन पंक्तियों में केलि-क्रीड़ा का कितना निगूढ़तम रहस्य अन्तर्निहित है, इसे रसज्ञ पाठक भली-भांति सोच सकते हैं।

और विरह में तो राधा के चिर-दबोचे भाव फूट ही पड़ते हैं। कृष्ण के वियोग से उसे अपने आमोद-प्रमोद ही खंडित होते दिखाई देते हैं—

"हमरो रंग रभस लए जएबह
लएबह कोन सँदेस ।"

यही नहीं, उसे वियोग में बार-बार अपने उस यौवन का ध्यान आता है, जिसका कृष्ण के वियोग में कोई मूल्य नहीं। यह बात वास्तविक भले ही हो, किन्तु मांसल भी अधिक है। केवल रति को सर्वस्व समझने वाले हृदय से ही ऐसे उद्गार निकल सकते हैं। उसकी स्मृति में मिलन की मधुर बातों में से यदि कोई आती है तो यह कि कृष्ण संभवतः अभी भी उसे बालिका समझते हैं, पर अब वह बालिका नहीं रह गई है। जिस दिन के लिए उसने अपने यौवन को पाला-पोसा है वह दिन तो आ गया, परन्तु कृष्ण के बिना चिर-संजोई मधुरतम आशा का हनन ही हो गया—

"आस क लता अगाओल सजनी
नयन क नीर पटाय ।
से फल अब तरुनत भेल सजनी
आँचर तर न समाय ।
काँच साँच पहु देखि गेल सजनी
तसु मन भेल कुह भान ।
दिन-दिन फल तरुनत भेल सजनी
अहु खन न कर गेआन ।"

कहने का अभिप्राय यह है कि विद्यापति की राधा किसी प्रतीकार्थ का आरोपण न होकर एक सामान्य नायिका है जिसकी नस-नस में रूप-यौवन के साथ वासना का गहरा लाल रंग दौड़ रहा है। इस प्रसंग में डा० रामकुमार वर्मा का यह कथन असंदिग्ध है—

"(विद्यापति की) राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय प्रेम है। आनन्द ही उसका उद्देश्य है और सौन्दर्य ही उसका क्रिया-कलाप। यौवन ही से जीवन का विकास है ···राधा का शनैः-शनैः विकास, उसकी वय : संधि, दूती की शिक्षा, कृष्ण से मिलन,

मान, विरह आदि उसी प्रकार लिखे गये हैं जिस प्रकार किसी साधारण स्त्री का भौतिक प्रेम।'''कृष्ण और राधा साधारण पुरुष-स्त्री हैं। राधा तो उस सरिता के समान है जिसमें भावनाएं तरंगों का रूप लेकर उठा करती हैं। राधा स्त्री है और केवल स्त्री। उसका अस्तित्व भौतिक संसार में ही है। उसका बाह्य रूप जितना आकर्षक है, आन्तरिक नहीं। ''उसकी चितवन में कामदेव के बाण हैं, पाँच नहीं वरन् सभी दिशाओं में छूटे हुए सहस्रबाण।''[१]

१. हिन्दी का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५०६

: १२ :

विद्यापति की सौन्दर्य-भावना

मनुष्य सौन्दर्योपासक प्राणी है। वह अपने से संबधित प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य चाहता है। उसकी यह सौन्दर्य-पिपासा इतनी प्रखर और प्रबल है कि वह बाह्य सौन्दर्य से ही संतुष्ट नहीं होता, उसे आन्तरिक सौन्दर्य की भी झलक चाहिए। सौन्दर्य की इस व्यापक भावना के कारण वह सत्य को सौन्दर्य और सौन्दर्य को सत्य मानने पर विवश हुआ है।

गीतिकाव्य कविता की कविता है, अतः उसमें सौन्दर्य-चित्रण की प्रचुर मात्रा में अपेक्षा होती है। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि गीतिकाव्य का जन्म जिन प्रमुख अनुभूतियों के कारण हुआ, उनमें सौन्दर्यानुभूति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्य जीवन की वह मधुरतम अभिव्यक्ति है जिसमें जीवन की यथार्थता और कल्पना की मधुरिमा का समुचित समन्वय होता है। परिणामतः काव्य का सौन्दर्य अत्यन्त विशद और व्यापक होता है। काव्य के सौन्दर्य में वस्तु और अभिव्यंजना का योग होता है, अर्थात् काव्यकार अपने प्रतिपाद्य को तो सौन्दर्य-निधि बनाता ही है, प्रतिपादन के साधनों को भी सुरूप-मंडित करता है। उसके काव्य में वे ही उपकरण स्थान पाते हैं जो स्वयं भी सुन्दर हों और कवि के प्रतिपाद्य को सौन्दर्य प्रदान कर सकें।

विद्यापति की पदावली का वर्ण्य शृंगार-रस है जिसमें नारी-सौन्दर्य का प्राधान्य है। साथ ही पुरुष-सौन्दर्य, प्रकृति-सौन्दर्य और अभिव्यंजना का भी सौन्दर्य है। इन्हीं सौन्दर्योपकरणों के सहारे विद्यापति की सौन्दर्य-भावना की व्यापकता का परिचय मिलता है। विद्यापति के लिए सौन्दर्य ही जीवन है और जीवन ही सौन्दर्य है।

नारी-सौन्दर्य

विद्यापति में नारी-सौन्दर्य की भावना इतनी उत्कट है कि वे राधा के बाल्य-काल को एकदम छोड़ गये हैं। राधा को कृष्ण के विरुद्ध एक यह भी शिकायत है कि वे उसके यौवन की अधिक प्रतीक्षा न करके अन्यत्र चले गये—

"कौंच साँच पहु देखि गेल सजनी
तसु मन भेल कुह भान।"

कृष्ण की इस आतुरता में सम्भवतः विद्यापति की तीव्र सौन्दर्यानुभूति मुखरित है। इसीलिए विद्यापति के काव्य में राधा की अवतारणा वयःसंधि के समय होती है।

राधा का सौन्दर्य-वर्णन दो विधाओं में किया गया है—एक तो समग्र रूप में और दूसरा प्रत्येक अवयवों के रूप में। इन दोनों विधाओं में प्राय. परम्परागत उपमानों का ही प्रयोग किया गया है। समग्र रूप का वर्णन देखिए—

"देख-देख राधा रूप अपार।
अपरुब के बिहि आनि मिलाओल
खिति-तल लावनि सार।
अंगहि अंग अनंग मुरछायल
हेरए पडए अथीर,
मनमथ कोटि मथन कह जे जन
से हेरि महि-मधि गीर।"

इन पंक्तियों में केवल एक ही उपमान द्वारा राधा का असीम सौन्दर्य व्यंजित है। कामदेव सौन्दर्यागार माना जाता है। जो कृष्ण एक ही नहीं, करोड़ों कामदेवों का मंथन करने में समर्थ है, वे भी राधा को देखकर पृथ्वी पर गिर पडते हैं। यहाँ राधा का समग्र रूप वर्णित है।

विद्यापति ने प्रत्येक अंग का पृथक्-पृथक् भी वर्णन किया है। इन वर्णनों में प्रकृति के चिरकाल से जाने-पहचाने उपमान ही प्रयुक्त हुए हैं। यथा—

शरीर के लिए लता और उरोजों के लिए पर्वत—

"पीन पयोधर दुबरि गता।
मेरु उपजल कनक लता।"

नेत्रों के लिए हरिण, मुख के लिए चन्द्रमा, शरीर की सुगंधि के लिए कमल, गति के लिए गज, शरीर की कांति के लिए स्वर्ण, वाणी की मिठास के लिए पिक—

"हरिन इन्दु अरविन्द करिनि हेम
पिक बूझल अनुमानी।
नयन बदन परिमल गति तन-रुचि
अओ अति सुललित बानी।"

होठों के लिए बिम्बफल, भौंह के लिए भौंरा और नासिका के लिए कीर—

"लोल कपोल ललित मनि-कुंडल
अधर बिम्ब अध जाई।
भौंह-भ्रमर नासापुट सुन्दर
से देखि कीर लजाई।"

विद्यापति राधा के केवल बाह्य सौन्दर्य तक ही सीमित रहे हों, ऐसी बात नहीं है। आन्तरिक सौन्दर्य के भी इन्होंने सजीव चित्र उतारे हैं जिनके दर्शन हमें विशेषरूप से विरह-वर्णन में होते हैं। राधा का प्रियतम उसे सोती छोड़कर चला गया है। काफी

दिन बीत जाने पर भी उस निर्मम ने उसकी कोई सुधि नहीं ली। फिर भी राधा का उसके प्रति दुराव नहीं है—

"युग-युग जीवथु बसथु लाख कोस।
हमर अभाग हुनक नहि दोस।"

प्रिय की शुभ कामना और अपने भाग्य की विडम्बना ! राधा के हृदय का इससे सुन्दर चित्र और क्या हो सकता है। विद्यापति की भांति सूर ने भी आन्तरिक सौन्दर्य की सफल अभिव्यक्ति की है, फिर भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। श्री रघुवंश के शब्दों में—

"भक्त सूर के चित्रों में यदि सौन्दर्य का अनंत प्रसार है तो विद्यापति के रूप-चित्रों में खो जाने और विलीन हो जाने की भावना अधिक है। सूर के सौन्दर्य में आत्म-तल्लीनता है और विद्यापति के सौन्दर्य में यौवन का उल्लास। साथ ही विद्यापति में स्त्री-सौन्दर्य का आकर्षण अधिक है।"[1]

पुरुष-सौन्दर्य

शृंगार-काव्य में नारी की ही प्रधानता होती है, इसलिए कवि प्रायः नारी-सौन्दर्य का वर्णन करके ही अलम् कर देते हैं, किन्तु विद्यापति की सौन्दर्य-व्यापिनी दृष्टि ने जब सब ओर सौन्दर्य का अनन्त ऋतुराज बिखरा देखा है तो पुरुष का सौन्दर्य ही इनकी दृष्टि से कैसे ओझल रह जाता ? इन्होंने कृष्ण के सौन्दर्य का चित्रण भी उसी मनोयोग से किया है। यह बात दूसरी है कि उसे राधा के सौन्दर्य की भांति अधिक विस्तार नहीं मिल पाया है। गीतिकाव्य में पुरुष-सौन्दर्य के विस्तार की अधिक गुंजायश भी तो नहीं होती। विद्यापति ने कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन भी प्रकृति के उपमानों के द्वारा किया है—

"ए सखि पेखलि एक अपरूप।
सुनइत मानबि सपन सरूप॥
कमल जुगल पर चाँद क माला।
तापर उपजल तरुन तमाला॥
तापर बेढ़लि बिजुरि लता।
कालिन्दी तट धीरे चलि जता॥"

यहां पर चरणों के लिए कमल, नखों के लिए चन्द्रमाओं की माला, यौवनयुक्त श्याम शरीर के लिए तमाल और पीताम्बर के लिए बिजली की लता का प्रयोग किया गया है।

कृष्ण का भी आन्तरिक सौन्दर्य विरह में ही प्रकट होता है, किन्तु विद्यापति

१. प्रकृति और हिंदी-काव्य, पृष्ठ ३१०

सौन्दर्य राधा की भावनाओं को दे पाए, वह कृष्ण के भावों को न मिल सका। कृष्ण तो केवल इतना ही कह पाते हैं—

"कठिन कलेवर तेईं चलि आओल
चित रहलि सोई ठामा।
से बिनु राति दिवस नहि भावए
ताहि रहल मन लागी।"

प्रकृति का सौन्दर्य

विद्यापति ने प्रकृति के सौन्दर्य का भी निर्निमेष दृष्टि से अवलोकन किया है और उससे चुन-चुनकर सौन्दर्य के उपमानों की खोज निकाला है। शारीरिक सौन्दर्य में जिन उपमानों का प्रयोग किया गया है, वे उपमान प्राय: परम्परागत ही हैं।

उद्दीपन रूप में प्रकृति-वर्णन का पूर्ण अवकाश कवि को प्राप्त हुआ है, इसलिए परम्परा की सीमाओं को लाँघकर कवि की कल्पना भावों का प्रवाह लेकर फूट पड़ी है—

"माघ मास सिरि पंचमी गजाइलि
नवम मास पचम हरुआई।
अति घन पीडा दुख बड़ पाओल
बनसपति भेलि धाई हे।"

आज के पाठक को प्रकृति में चेतना का आरोप कोई विशेष महत्त्व का चाहे न लगे, किन्तु विद्यापति के समय में यह असाधारण ही बात थी। प्रकृति में चेतना खोजना उसके प्रति अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध का परिचायक है और परिचय तथा सौन्दर्य का अटूट सम्बन्ध है।

यही नहीं, वसन्त के आगमन की कल्पनामात्र से कवि के चाक्षुष जगत् में उसका प्रत्येक हृदय थिरकने लगता है—

"आएल रितुपति राज बसंत।
धाओल अलिकुल माधवि-पंथ।
दिनकर-किरन भेल पौगंड।
केसर कुसुम धएल हेमदंड।
नृप-आसन नव पीठल पात।
काचन कुसुम छत्र धरु माथ।
मौलिक रसाल-मुकुल भेल ताय।
समुख हि कोकिल पञ्चम गाय।
सिखिकुल नाचत अलिकुल यंत्र।
द्विजकुल आन पढ आसिख मंत्र।

चन्द्रातप उड़े कुसुम पराग।
मलय पवन सह भेल अनुराग।''...

कहां तक कहें, एक के बाद एक दृश्य कवि की वाणी से फूटा पड़ रहा है।

वसन्त में प्रकृति-कामिनी सभी नये शृंगारों को धारण कर उन्मादिनी बन गई है—

''नव वृन्दावन नव नव तरुगन
नवनव विकसित फूल।
नवल वसन्त नवल मलयानिल
मातल नव अलि कूल।''

सौन्दर्य का रहस्य ही नित नवीनता में अन्तर्निहित है। विद्यापति के प्रकृति-वर्णन में कवि की परम्पराएं तो मान्य हैं ही, साथ ही प्रकृति का वह सौन्दर्य भी मुखरित है जिसको कवि ने अपनी निर्निमेष दृष्टि से देखा है, और भावना का मधुर प्रवाह देकर जिसे प्रभावित किया है।

अभिव्यंजना का सौन्दर्य

सुन्दर वर्णन के लिए सौन्दर्यमयी अभिव्यंजना आवश्यक है। विषय चाहे जितना सौन्दर्ययुक्त हो, यदि उसकी व्यंजना में सौन्दर्य नहीं है तो विषय का सौन्दर्य चमकने के स्थान पर धूमिल बन जाता है। महाकवि जितना विषय के सौन्दर्य का ध्यान रखते हैं उतना ही उसे व्यक्त करने के उपकरणों का भी।

इसमें सन्देह नहीं कि विद्यापति ने अभिव्यंजना के सौन्दर्य पर यथेष्ट ध्यान दिया है। अभिव्यंजना के सौन्दर्य के अन्तर्गत शब्द-सौन्दर्य, नाद-सौन्दर्य, संगीत-सौन्दर्य और भाषा-सौन्दर्य आते हैं।

शब्द-सौन्दर्य का तात्पर्य शब्दों के सूक्ष्म चुनाव से है। सभी पर्यायवाची शब्द हर स्थान पर एक ही भाव के द्योतक नहीं होते। इसीलिए जागरूक कलाकार भावानुरूप ही शब्दों का ग्रहण करता है। हिन्दी-साहित्य में पन्तजी अपनी इस प्रवृत्ति के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। विद्यापति का शब्द-चयन भी भावानुरूप ही है। यथा—

''नंद क नन्दन कदम्ब क तरु तर,
धिरे-धिरे मुरलि बजाव।''

यहां पर 'नंद क नन्दन' शब्द ध्यान देने योग्य है। कृष्ण का वर्णन शृंगार-रस के प्रसंग में किया गया है। यदि यहां पर 'मुरारि' जैसा कोई शब्द होता तो भाव इतना मर्मस्पर्शी न बन पाता। 'नंद क नन्दन' से ऐसे कृष्ण का चित्र साकार हो उठता है जिसके शरीर में यौवन का पूर्ण विकास है और जिसके मानस में प्रेम और शृंगार की लोल लहरियां इठला रही हैं।

शब्द-चित्रण के लिए भी कवि को शब्दों का पारखी होना अनिवार्य है।

विद्यापति की पदावली में अगणित शब्द-चित्र मिलते हैं। वय संधि के प्रसंग में तो बचपन और यौवन के दो नितांत विभिन्न कगारों के बीच डगमगाती नायिका के शब्द-चित्र बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। यथा—

"खने खन नयन कोन अनुसरई।
खने खन बसन धूलि तनु भरई।
खने खन दसन-छटा छुट हास।
खने खन अधर आगे गहु बास।"

भावों और तज्जन्य प्रतिक्रियाओं की इससे अधिक साकारता और क्या हो सकती है?

नाद-सौन्दर्य का अभिप्राय विषय को स्वरों के माध्यम से व्यक्त करना है। रासलीला का यह चित्र देखिए—

"बाजत द्रिगि द्रिगि धौद्रिम द्रिमिया।
नटति कलाबति माति श्याम संग
कर करताल प्रबन्धक ध्वनिया।
डम डम डफ डिमिक डिम मादल
रुनु भुनु मंजीर बोल।
किंकिनि रनरनि बलआ कनकनि
निधुवन रास तुमुल उतरोल।
बीन, रबाब, मुरज स्वरमंडल
सा रि ग म प ध नि सा बहु बिधि भाव।"

वाद्य-यंत्रों के स्वरों के अनुरूप ही शब्द-चयन करके नाद-सौन्दर्य का अत्यन्त सजीव वर्णन इन पंक्तियों में मुखरित हो गया है।

संगीत का सौन्दर्य लय के द्वारा भावों को गहनतर बनाता है। विद्यापति का लय-विधान भावों में मर्मस्पर्शिता उत्पन्न करता है। जैसे—

"सुन्दरि चललिहु पहु-घर ना।
चहुदिसि सखी सब कर धर ना।"

इस गीत में 'ना' की लय में अत्यन्त मधुर अनुरोध है जो टाला ही नहीं जा सकता। साथ ही नायिका के प्रति सखियों की गहरी अपनत्व की भावना भी व्यंजित है।

भाषा तो विद्यापति की उंगलियों पर नाचने वाली कठपुतली के समान है जो सदैव भावानुसारिणी होकर चली है। क्या भावपक्ष और क्या कलापक्ष, सभी में भाषा का सौन्दर्य दृष्टव्य है।[1]

---

१. विशेष परिचय के लिए 'विद्यापति का काव्य-सौन्दर्य' शीर्षक देखिए।

विद्यापति के सौन्दर्य-चित्रण का चित्रण करते हुए श्री रामखेलावन पाण्डेय लिखते हैं—

"विद्यापति के गीतों में सौन्दर्य-चित्रण अधिक है। संस्कृत-काव्य की परम्परा से प्रेरणा पाने के कारण सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण में उपमा, रूपक आदि सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग विद्यापति और इनके बाद के भक्त-कवियों ने किया। सौन्दर्य स्थूल रेखाओं में घिरा और स्पष्ट है। इस सौन्दर्य के चित्रण के आधार-स्वरूप उपमानों में सौन्दर्य की कल्पना अनेक अवस्थाओं में परम्परागत रही। चन्द्र, भ्रमर, पिक, दाड़िम, नागिन, कमल, सिंह आदि सर्वमान्य उपमान रहे।"[1]

विद्यापति, सूर और तुलसी के नारी-चित्रों में ऐन्द्रियता और भावात्मकता का सम्मिश्रण है। 'सूर ऐसो रूप कारन मरत जिव विन प्यास' की आकुलता तुलसी की सीता में नहीं। सीता में सौन्दर्य-प्रकाश कम नहीं, किन्तु वह आंखों को जलाता नहीं, बल्कि शीतल प्रकाश है जिसे संयम और संकोच का साहचर्य है।

"सूर की भक्ति-पद्धति तुलसी से भिन्न है अतः सूर को सौन्दर्य-शील-चित्रण में जितनी स्वतन्त्रता है, उतनी राम के साथ भिन्न संबंध होने के कारण तुलसी को नहीं। विद्यापति इस प्रकार का कोई बन्धन स्वीकार नहीं करते, अतः जो स्वतन्त्रता, स्पष्टता और ऐन्द्रियता विद्यापति की राधा में है, वह सूर और तुलसी में नहीं। तुलसी में जो गंभीरता है, वह उनमें नहीं। तुलसी का सौन्दर्य-चित्र नारी का चित्र नहीं, देवी का चित्र है और विद्यापति का चित्र सामान्य नायिका का। सूरदास का चित्र पूर्णतया मानवीय सौन्दर्य है जिसमें आकर्षण है, मोह है, तृप्ति है, ज्वाला है और साथ ही अनिर्वचनीय आनन्द भी।"[2]

१. गीतिकाव्य, पृष्ठ १८३
२. गीतिकाव्य, पृष्ठ १८५

: १४ :

विद्यापति का नायिका-भेद

शृंगार-रस के आलम्बन नायक-नायिका होते है। नायक की अपेक्षा रीतिग्रन्थों में नायिका के महत्त्व का प्राधान्य रहा है क्योंकि नारी ही पुरुष के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र है। अत. नायक की अपेक्षा नायिका के भेदोपभेदो पर ही काव्यशास्त्रियों की दृष्टि विशेषरूप से रही है।

नायिका-भेद

मनोविज्ञान, अवस्था, दशा और प्रेम-स्तर के आधार पर स्त्रियो के स्वभाव, अवस्था, स्थिति आदि के अनुकूल मनोदशाओ का अध्ययन ही नायिका-भेद कहलाता है।

मनोविज्ञान के आधार पर नायिकाओ को तीन वर्गों मे रखा गया है—स्वकीया, परकीया और साधारणी। स्वकीया के तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या, प्रौढा। मुग्धा में लज्जा का आधिक्य उत्कठा पर आवरण डाले रहता है। मध्या मे लज्जा एव उत्कंठा की भावनाए समान स्तर पर आ जाती है और प्रौढा मे 'लाज की लगाम' नही रह पाती। काम-वासना की स्पष्टतम अभिव्यक्ति उसमे हो जाती है।

स्वकीया मे सामाजिक भय नही होता। उसका स्वच्छन्द उपभोग किया जा सकता है, किन्तु परकीया की स्थिति इसके विपरीत होती है। उसके उपभोग मे सामाजिक भय तथा अपयश की आशका होती है, फलत उसका स्वच्छन्द उपभोग नही हो सकता। इस पर भी रीतिकाव्यो मे परकीया का ही अपेक्षाकृत अधिक वर्णन है। इसका कारण यह है कि परकीया-प्रेम मे ही प्रेम और मनोभावों को अधिक विशद और विस्तृत होने का अवकाश है, क्योंकि स्वकीया का प्रेम सहज गति से बहने वाली सरिता के समान है और परकीया का प्रेम पग-पग पर बाधाओं, आशंकाओ और भय की चट्टानों से टकराने वाली निर्झरिणी का सतत् गतिशील प्रवाह है क्योंकि बाधा ही तो गति है।

परकीया के छः भेद हैं—*गुप्ता, विदग्धा, विलक्षिता, कुलटा, अनुशयाना* और *मुदिता*।

गुप्ता—जो नायिका प्रेम-व्यापार को छिपाने का प्रयत्न करे। यह भावगोपन और सुरतगोपना दो प्रकार की होती है।

विदग्धा—जिसके कार्यों मे अथवा वचनो में वैदग्ध्य हो। इसके दो भेद हैं—वाग्विदग्धा और क्रियाविदग्धा।

विलक्षिता—गुप्ता नायिका जब प्रयत्न करने पर भी भाव अथवा सुरत का गोपन नहीं कर पाती तो वह विलक्षित हो जाने के कारण विलक्षिता कहलाती है।

कुलटा—जिसका अनेक पुरुषों से सम्बन्ध हो।

अनुशयाना—संकेत-स्थान के नष्ट हो जाने के कारण, समय पर वहां न पहुंच सकने के कारण अथवा नायक से मिलने की संभावना न रहने के कारण पश्चात्ताप करने वाली नायिका अनुशयाना होती है।

मुदिता—अनुशयाना के विपरीत परिस्थिति वाली अर्थात् संभोग श्रृंगार की संभावना से मुदित होने वाली नायिका मुदिता कहलाती है।

साधारणी के प्रेम को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया क्योंकि उसके प्रेम में हृदय का सहयोग नहीं, स्वार्थ का हाथ होता है। वह धन के लिए ही प्रेम करती है।

अवस्था के आधार पर नायिकाओं के आठ भेद किए गये हैं—स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, कलहान्तरिता, वासकसज्जा, विप्रलब्धा, विरहोत्कंठिता, खंडिता और प्रोषितपतिका।

स्वाधीनपतिका—जिस नायिका का पति अन्यत्र आसक्त न होकर उसके ही अधीन रहता है, उसके श्रृंगार करने में रुचि लेता है और सदैव उसके ही पास बैठा रहना चाहता है।

अभिसारिका—जो अभिसार के लिए संकेत-स्थल पर जाती है। इसके दो भेद हैं—शुक्लाभिसारिका और कृष्णाभिसारिका।

कलहान्तरिता—जो नायिका प्रणय-कलह में प्रवृत्त होकर नायक की उपेक्षा करती है और नायक के निराश होकर चले जाने पर दुखी होती है।

वासकसज्जा—जो प्रसाधन से सज्जित होकर प्रियतम की प्रतीक्षा में लीन रहती है।

विप्रलब्धा—जो नायिका संकेत-स्थल पर जाकर भी नायक को नहीं पाती।

विरहोत्कंठिता—जो नायिका रातभर प्रतीक्षा करने के बाद भी नायक से नहीं मिल पाती और तत्कारण अत्यन्त उद्विग्न हो उठती है।

खंडिता—अन्य नायिका के संभोग-चिन्ह धारण किए हुए प्रातःकाल ही यदि नायक नायिका के पास पहुंचता है तो वह खंडिता कहलाती है।

प्रोषितपतिका—प्रवासी पति की वियोगिनी नायिका को प्रोषित पतिका कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—

(अ) प्रवत्सत्पतिका—जिसका पति परदेश में है।

(ब) प्रवत्स्यत्पतिका—जिसका पति परदेश जाने वाला है।

(स) आगतपतिका—जिसका पति परदेश से आ तो गया है, किन्तु अभी मिलन नहीं हुआ।

दशा के भेद के आधार पर नायिकाओं के तीन भेद हैं—अन्यसंभोग-दुखिता गर्विता और मानवती।

अन्यसंभोगदुखिता—नायक के पास प्रेषित अपनी सखी या दूती को सुरत-चिन्ह से नायक द्वारा संभुक्त अनुमान करके अथवा सपत्नी के शरीर पर सुरत-चिन्हों को देख कर तीव्र वेदना अनुभव करने वाली नायिका अन्यसंभोग-दुखिता कहलाती है।

गर्विता—जिसे किसी प्रकार का गर्व हो। इसके अनेक भेद हो सकते हैं यथा—प्रेमगर्विता, सुरतगर्विता, गुणगर्विता, रूपगर्विता आदि।

मानवती—जो मान करने वाली नायिका हो।

प्रेमस्तर के आधार पर नायिकाओं के दो भेद होते हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा ज्येष्ठा पर नायक का पूर्ण प्रेम होता है और कनिष्ठा पर अपेक्षाकृत कम।

इनके अतिरिक्त नायिका की कुछ सहायिकाएं भी होती हैं। दूती-भेद में साहित्य दर्पणकार ने सखी, नटी, दासी, धाय-पुत्री, पड़ोसिन, सन्यासिनी, शिल्पकार की स्त्री आदि का उल्लेख किया है। ये सहायिकाएं भी नायिकाभेद के अन्तर्गत आती हैं।

विद्यापति का नायिका-भेद

पदावली में समूचा नायिका-भेद नहीं खोजा जा सकता और न इतनी-सी छोटी रचना में यह संभव ही है, तथापि अधिकाधिक नायिकाओं के भेद पदावली में उपलब्ध हैं। पदावली की राधा का स्वरूप निर्धारित करते हुए डा० ओम्प्रकाश के ये शब्द उपयुक्त ही हैं—

"नायिका-भेद की प्रथा के अनुसार राधा के भी अनेक रूप हैं जिनमें से विद्यापति को उस राधा में अधिक रुचि है जो समाज के बन्धनों को तोड़ती हुई प्रेम की कसौटी पर कसकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करती है, अर्थात् वह स्वकीया की अपेक्षा परकीया अधिक है, प्रौढ़ा की अपेक्षा मुग्धा अधिक है और खंडिता की अपेक्षा अभिसारिका अधिक है।"[1]

नायिका-भेद से सम्बन्धित पदावली के कतिपय उदाहरण देखिए—

मुग्धा नायिका

'रसराज' में मुग्धा की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"अभिनव जोबन आगमन, जाके तन में होई।
ताको मुग्धा कहत हैं, कवि कोविद सब कोई।"

अर्थात् जिसके जीवन में नव-यौवन का संचार हो, उसे विद्वान् कवि मुग्धा कहते हैं। विश्वनाथ महापात्र ने मुग्धा में पाँच विशेषताएं मानी हैं—(१) यौवन का प्रथम अवतार, (२) काम का प्रथम संचार, (३) रति में वामाचरण, (४) मान में मृदुता और (५) लज्जाविजय। विद्यापति की मुग्धा यौवन का प्रथम अवतार है। उसका रूप मंडित करने के लिए दक्षिण हृदय अपरिमित [illegible]

१. आलोचना का दौर, पृष्ठ २१

पर एकत्र हो गये हैं। उसका रूप-सौन्दर्य देखकर करोड़ों कामदेव का मर्दन करने वाले कृष्ण भी संज्ञाहीन होकर भूमि पर गिर पड़ते हैं। यौवन के साथ ही उसमें काम का भी संचार हुआ है। वह मुकुर लेकर बार-बार शृंगार-साधन करती है और बार-बार अपनी सखी से सुरति-विहार के विषय में पूछती है। लज्जा की तो मानो वह साक्षात् देवी ही है। जिस प्रकार हरिणी दत्तचित्त होकर संगीत सुनती है, उसी प्रकार वह रस-कथा में निमग्न होकर भी लज्जा के आवरण से विहीन नहीं हो पाती। कृष्ण के सम्मुख अपना सर्वस्व न्यौछावर करके भी वह निर्निमेष दृष्टि से उन्हें नहीं देख पाती—

"अवनत आनन कए हम रहलिहुं
बारल लोचन चोर।
पिया मुख-रुचि पिवए धाओल
जनि से चाँद चकोर।
ततहुँ सयँ हठ हरि मो आनल
धएल चरनन राखि।
मधुप मातल उड़ए न पारए
तइअओ पसारए पाँखि।"

यही अवस्था बिहारी की मुग्धा नायिका की भी है। समान स्मर और संकोच के वश में पड़कर विवश हुई वह नायिका किसी भी एकदशा में स्थिर नहीं रह पाती। नायक को देखने के लिए बार-बार उझकती है, छिपती है और फिर छिप-छिपकर उझकती है—

"समरस-समर-सकोच-बस-बिबस न ठिक ठहराइ।
फिरि फिरि उझकति, फिरि दुरति, दुरि दुरि उझकति जाइ।"[1]

और मतिराम की मुग्धा तो कृष्ण को देखते ही किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाती है—

"देखत ही नन्दलाल को, बाल के पूरि रहे अँसुअन दृगंचल।
बात कही न गई, सु रही गहि, हाथ दुहूँ सों सहेली के अंचल।"

मध्या

मध्या में लज्जा और उत्कंठा समान स्तर पर होती हैं। मुग्धा की भांति न तो उसकी कामना पर लज्जा का गहरा आवरण होता है और न प्रौढ़ा की भांति अभि-प्राय की स्पष्ट अभिव्यक्ति। उसके शब्दों में और कार्यों में लज्जा और कामना का समन्वय होता है। विद्यापति की मध्या का कथन देखिए—

"तुअ गुन गौरव सील सोभाव।
सुनि कए चढ़लिहुँ तोहरि नाव।
× × ×

---

१. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ २१७

आइलि सखि सब साथ हमार।
से सब भेलि निकहि बिधि पार।
× × ×
तोहँ पर नागर हम पर नारि।
काँप हृदय तुअ प्रकृति विचारि।"

इन पंक्तियों में नायिका ने अपना अभिप्राय प्रकट कर दिया है, किन्तु उस पर लज्जा का आवरण पड़ा हुआ है। इस पद का विश्लेषण करते हुए श्री कुमुद विद्यालंकार ने लिखा है—

"तुअ गुन गौरव सील सोभाव सुनि, कए चढ़लिहुँ तोहरि नाव' से एक-एक कदम बढ़ते हुए 'तोहँ पर नागर हम पर नारि, काँप हृदय तुअ प्रकृति विचारि' तक पहुँच कर यदि आप स्त्री-हृदय को नहीं समझ सकते तो आप निश्चय ही कुछ नहीं समझ पाएंगे।"[1]

बिहारी की मध्या हृदय से लगकर और रति-सुख प्राप्त करके भी आँखें खोल-कर नायक को नहीं देख पाती—

"लहि रति सुखु लगियै हियैं, लखी लजौंही नीठि।
खुलति न मो मन बँधि रही, वहै अधखुली डीठि।"[2]

और मतिराम की मध्या नायिका में तो कामना और लज्जा स्पष्ट ही प्रकट हो जाती हैं—

"सैनन चरच गई, गौननि थकित भई,
नैनन में चाह करैं, बैनन में नहियाँ।"

प्रौढ़ा

प्रौढ़ा में कामना की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। उसके कार्यों में और वचनों में लज्जा का बंधन नहीं रह पाता। तभी तो विद्यापति की प्रौढ़ा स्पष्ट कह देती है—

"अबहुँ तेजहु पहु मोहि न सुहाए।
पुनु दरसन होत मदन दोहाए।"

कामदेव की शपथ लेकर फिर से मिलने की प्रतिज्ञा करने में लज्जा का कोमल आवरण ठहर ही कहाँ सका है? इससे अधिक स्पष्टतम अभिव्यक्ति नारी के वचनों में सम्भव भी नहीं, साधारणी नायिका की बात और है। विदग्ध-विलास का वर्णन तो प्रौढ़ा के मुँह से ही सम्भव है।

बिहारी की प्रौढ़ा तो विपरीत-रति में भी जूझ पड़ती है—

---

१. "विद्यापति की पदावली" कुमुद, पृष्ठ १२५
२. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ २६६

परयौ जोरु विपरीत रति रुपी सुरत रनधीर।
करत कुलाहल किंकनी गह्यौ मौन मंजीर।"[1]

विद्यापति की प्रौढ़ा भी विपरीत रति में कम नहीं——

"आकुल चिकुर बेढ़लि मुख सोभ।
राहु कएल ससि-मंडल लोभ।
बड़ अपरुब हुई चेतन मेलि।
विपरित रति कामिनि कर केलि।
कुच विपरीत विलम्बित हार।
कनक कलस बम दूध क धार।
पिय मुख समुंखि चूमि तजि ओज।
चांद अधोमुख पिबए सरोज।
किंकिन रटत नितम्बनि छाज।
मदन - महारथ बाजन बाज।"

गुप्ता

गुप्ता प्रेम-व्यापार को छिपाने का प्रयास करती है। विद्यापति ने 'छलना' शीर्षक में इसका अत्यंत विस्तार से वर्णन किया है। यदि विहारी की नायिका सुरत-गोपना में चतुर है——

"लटकि लटकि लटकत चलत डटत मुकुट की छांह।
चटक भर्यौ नट मिलि गयौ अटक भटक बन मांह।"[2]

तो विद्यापति की नायिका में भी कम चातुर्य नहीं। दन्तक्षत को छिपाने के लिए वह कैसी कथा गढ़ती है——

"कुसुम तोरय गेलहुँ जाहाँ।
भमर अधर खंडल ताहाँ।"

और हार तथा चूड़ी फूटने का यह बहाना भी कम चातुरी का नहीं——

"खरि नरि-वेग भासलि नाई।
धरए न पारथि बाल कन्हाई।
ते धँसि जमुना भेलहुँ पार।
फूटल वलुआ टूटल हार।"

विदग्धा

विदग्धा नायिका अपने कार्यों से या वचनों से अपनी मनःस्थिति को छिपाती

---

१. विहारी रत्नाकर, पृष्ठ ५८
२. विहारी रत्नाकर, पृष्ठ ७१

आइलि सखि सब साथ हमार।
से सब मेलि निकहि बिधि पार।
× × ×
तोहें पर नागर हम पर नारि।
कांप हृदय तुश्र प्रकृति बिचारि।"

इन पंक्तियों में नायिका ने अपना अभिप्राय प्रकट कर दिया है, किन्तु उस पर लज्जा का आवरण पड़ा हुआ है। इस पद का विश्लेषण करते हुए श्री कुमुद विद्यालंकार ने लिखा है—

"तुश्र गुन गौरब सील सोभाव सुनि, कए चढ़लिहुँ तोहरि नाव' से एक-एक कदम बढ़ते हुए 'तोहें पर नागर हम पर नारि, कांप हृदय तुश्र प्रकृति बिचारि' तक पहुँच कर यदि आप स्त्री-हृदय को नहीं समझ सकते तो आप निश्चय ही कुछ नहीं समझ पाएंगे।"[1]

बिहारी की मध्या हृदय से लगकर और रति-सुख प्राप्त करके भी आँखें खोल-कर नायक को नहीं देख पाती—

"लहि रति सुखु लगियै हियैं, लखी लजौंहीं नीठि।
खुलति न सो मन बँधि रही, वहै अधखुली डीठि।"[2]

और मतिराम की मध्या नायिका में तो कामना और लज्जा स्पष्ट ही प्रकट हो जाती हैं—

"बैनन चरच गई, गौननि थकित भई,
नैनन मे चाह करै, बैननै में नहियाँ।"

प्रौढ़ा

प्रौढ़ा मे कामना की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। उसके कार्यों मे और वचनों मे लज्जा का बंधन नहीं रह पाता। तभी तो विद्यापति की प्रौढ़ा स्पष्ट कह देती है—

'अबहुँ तेजहु पहु मोहि न सुहाए।
पुनु दरसन होत मदन दोहाए।"

कामदेव की शपथ लेकर फिर से मिलने की प्रतिज्ञा करने मे लज्जा का कोमल आवरण ठहर ही कहा सका है? इससे अधिक स्पष्टतम अभिव्यक्ति नारी के वचनों में संभव भी नहीं, साधारणी नायिका की बात और है। विदग्ध-विलास का वर्णन तो प्रौढ़ा के मुह से ही संभव है।

बिहारी की प्रौढ़ा तो विपरीत-रति मे भी जूझ पड़ती है—

---

१. विद्यापति की पदावली कुमुद, पृष्ठ १७५
२. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ २६६

परयौ जोरु विपरीत रति रुपी सुरत रनधीर ।
करत कुलाहल किंकनी गह्यौ मौन मंजीर ।''[1]

विद्यापति की प्रौढ़ा भी विपरीत रति में कम नहीं—

''आकुल चिकुर बेढ़लि मुख सोभ ।
राहु कएल ससि-मंडल लोभ ।
बड़ अपरुब हुई चेतन मेलि ।
विपरित रति कामिनि कर केलि ।
कुच विपरीत विलम्बित हार ।
कनक कलस बम दूध क धार ।
पिय मुख समुंखि चूमि तजि ओज ।
चाँद अधोमुख पिबए सरोज ।
किंकिन रटत नितम्बनि छाज ।
मदन - महारथ बाजन बाज ।''

गुप्ता

गुप्ता प्रेम-व्यापार को छिपाने का प्रयास करती हैं । विद्यापति ने 'छलना' शीर्षक में इसका अत्यंत विस्तार से वर्णन किया है । यदि बिहारी की नायिका सुरत-गोपना में चतुर है—

''लटकि लटकि लटकत चलत डटत मुकुट की छांह ।
चटक भरयौ नट मिलि गयौ अटक भटक बन मांह ।''[2]

तो विद्यापति की नायिका में भी कम चातुर्य नहीं । दन्तक्षत को छिपाने के लिए वह कैसी कथा गढ़ती है—

''कुसुम तोरय गेलहुँ जाहाँ ।
भमर अधर खंडल ताहाँ ।''

और हार तथा चूड़ी फूटने का यह बहाना भी कम चातुरी का नहीं—

''खरि नरि-बेग भासलि नाई ।
घरए न पारथि बाल कन्हाई ।
ते धँसि जमुना भेलहुँ पार ।
फूटल बलुआ टूटल हार ।''

विदग्धा

विदग्धा नायिका अपने कार्यों से या वचनों से अपनी मनःस्थिति को छिपाती

१. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ५८
२. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ७१

है। इसलिए इसके दो भेद हैं—क्रियाविदग्धा और वाग्विदग्धा। विद्यापति की क्रिया-विदग्धा का उदाहरण देखिए—

"दाहिनि नयन पिसुन गन वारल
परिजन वामहि आघ।
आघ नयन-कोने जब हरि पेखल।
तें भेल अत परमाद।"

विद्यापति की नायिका की अपेक्षा बिहारी की नायिका अत्यधिक विदग्धा है। वह अपनी मनःस्थिति को अधिक प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर पाती है—

"लखि गुरुजन बिच कमल सों सीस छुआयो स्याम।
हरि सन्मुख कर आरसी हियें लगाई वाम॥"

विलक्षिता

जब गुप्ता नायिका का भंडाफोड़ हो जाता है तो वह विलक्षिता कहलाती है। राधा की सखियाँ उसके समस्त रहस्यों को समझ लेती हैं—

"सामरि हे झामरि तोर देह।
की कहु का सयँ लाएलि नेह।
नींद भरल अछ लोचन तोर।
कोमल वदन कमल-रुचि चोर।
निरस धुसर करु अधर पवार।
कोन कुबुधि लुटु मदन-भंडार।"

अभिसारिका

गुरुजनों के भय से गृह-त्याग करके संकेत-स्थल पर नायक से मिलने के लिए जाने वाली नायिका अभिसारिका कहलाती है। इसके दो भेद हैं—शुक्लाभिसारिका और कृष्णाभिसारिका। शुक्लपक्ष में विचरण करने वाली नायिका शुक्लाभिसारिका और कृष्णपक्ष में विचरण करने वाली कृष्णाभिसारिका होती है। विद्यापति ने अभिसारिका नायिका का खूब जी खोलकर वर्णन किया है। इनकी अभिसारिका की उत्कंठा इतनी अदम्य है कि भयानक अँधेरी रातों में भी, जीवन-मरण का प्रश्न बनने पर भी, दमित नहीं होती। इसी अदम्य भाव के कारण कुछ आलोचकों ने इसे आत्मा का परमात्मा की ओर प्रयाण माना है। वस्तुतः यह केवल नायिकाभेद की ही करामात है, किसी अलौकिक अर्थ की व्यंजना नहीं। विद्यापति की शुक्लाभिसारिका अपनी सखी से कहती है—

"धवल वसन तनु झँपाएब
गमन करब मदा।
कहयौ सगर गगन उगत
सहस सहस चदा।"

चाहे आकाश में हज़ारों चन्द्रमा निकल आएं, पर विद्यापति की नायिका निश्चित स्थान पर जाकर ही रहेगी। वह श्वेताम्बरों से अपने शरीर को इस प्रकार ढाँप लेगी कि कोई उसे देख ही नहीं पाएगा। पर बिहारी की अभिसारिका तो चांदनी में ही मिल जाती है—

"जुवति जोन्ह में मिल् गई नैकु न परति लखाइ।
सौंधे के डोरन लगी अली चली संग जाइ।"[1]

मानवती

प्रिय से रुष्ट होने वाली नायिका मानवती कहलाती है। विद्यापति ने मान का भी विस्तृत वर्णन किया है। रुष्ट राधा अपनी सखी से कहती है—

"मधु सम वचन कुलिस सम मानस
प्रथमहि जानि न भेला।
अपन चतुरपन पिसुन हाथ देल
गरुअ गरब दुर गेला।
सखि हे, मन्द प्रेम परिनामा।"

प्रोषितपतिका

प्रोषितपतिका का भी विद्यापति ने सविस्तार वर्णन किया है। इसके तीन भेद होते हैं—

१. प्रवत्सत्पतिका—जिसका पति परदेश में है।
२. प्रवत्स्यत्पतिका—जिसका पति परदेश जाने वाला है।
३. आगतपतिका—जिसका पति परदेश से आ तो गया है, किन्तु अभी मिलन नहीं हुआ है।

पदावली में प्रथम दो भेद ही मिलते हैं। प्रवत्स्यत्पतिका का उदाहरण देखिए—

"सखि हे बालम जितब विदेस।
हम कुलकामिनी कहइत अनुचित
तोहहुँ दे हुनि उपदेस।"

× × ×

"माधव, तोहे जनु जाइ विदेस।
हमरो रंग रभस लए जएबह
लएबह कौन संदेस।"

परन्तु कृष्ण न रुके। वे विदेश चले ही गए। फिर तो राधा प्रवत्सत्पतिका बन ही जाती है—

---

१. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ ७

"माधव हमर रहल दुर देस।
केग्रो न कहइ सखि कुसल सनेस।"

यद्यपि नायिका भेद का आग्रह विद्यापति में अनुमानित नहीं होता, क्योंकि जयदेव जैसे नायिका-भेद का इनमें अभाव है, तथापि पदावली में यथासंभव अधिकाधिक भेद चित्रित हुए हैं।

अंत में एक प्रश्न का समाधान भी आवश्यक है। प्रश्न यह है कि विद्यापति की राधा स्वकीया है या परकीया? जयदेव की भांति विद्यापति की राधा भी स्वकीया ही है। डा० रामरतन भटनागर ने लिखा है—

"विद्यापति के पदों से नायिका का रूप स्पष्ट नहीं है, परन्तु कलहान्तरित और विप्रलब्धा दशाएं स्वकीया की ही होती हैं, परकीया की नहीं। अतः उनकी नायिका भी स्वकीया है।"[1]

हमारी समझ से विद्यापति ने राधा का स्वकीया रूप स्पष्ट कर दिया है, इसलिए ऐसे अनुमान लगाने की आवश्यकता नहीं। अनेक बार विरह वर्णन में राधा की स्थिति ही नहीं, उसके कृष्ण के प्रति सबोधन भी स्वकीया के परिचायक हैं। यथा—

"सखि हे बालम जितब विदेस।
× × ×
क सयन सखि सूतल रे
आछल बालम निसि मोर।
× × ×
सखि मोर पिया।
× × ×
के पतिआ लए जाएत रे
मोरा पिअतम पास।"

ऐसे सबोधनों का साहस अपनी सखी से स्वकीया में ही हो सकता है

---

१. विद्यापति, पृष्ठ ६

: १५ :

विद्यापति का लोकपक्ष

पाश्चात्य से कला कला के लिए या कला जीवन के लिए उठने वाला विवाद अब प्राय: गतिशून्य सा ही हो गया है। धरा के वक्षस्थल पर नित नवीनता धारण करने वाले संघर्षों से मस्त होकर केवल कल्पनाजीवियों को भले ही कला और लोक का कोई संबंध आज भी मान्य न हो, किन्तु भारतीय परम्परा साहित्य और लोक से समुचित गठबंधन की रही है। अत: प्रत्येक महाकवि की रचनाओं में इस गठबंधन का स्वरूप देखने को मिलता है और वस्तुत: यही उसकी महानता का कारण भी है। तुलसी का लोक-नायकत्व इसी तथ्य पर आधारित है।

विद्यापति की दृष्टि भी सदैव लोकपक्ष पर रही है। इन्होंने अपने सभी काव्यों में लोकधर्म का सत्संदेश दिया है। हां, पदावली के विषय में इस संबंध में कुछ विवाद अवश्य किया जा सकता है, किन्तु यदि इसका सम्यक् अध्ययन किया जाए तो यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि पदावली की शृंगार-वीचियों में बेतहाशा बहकर भी विद्यापति लोकपक्ष को भूल नहीं पाए हैं। पदावली का सत्संदेश गुप्त प्रेम की भर्त्सना और उसका दुष्परिणाम-प्रदर्शन है।

पदावली का काल और वातावरण

पदावली जिस काल और वातावरण में रची गई, वह घोर शृंगारिक था साधारण लोगों की तो कौन कहे, भक्ति-संप्रदायों के प्रणेता भी माधुर्यभाव के नाम भक्ति में शृंगार का अमित समावेश कर चुके थे। जीवन और जगत् का कोई कोन शृंगार-रस से अछूता न रह गया था। राजा शिवसिंह और लखिमादेवी तो, जिनके आश्र में कवि ने अपने पदों की रचना की, शृंगार-रस के आगर ही थे। राजा शिवसिंह इ रस के पूर्ण ज्ञाता थे—

"भनइ विद्यापति इहो रस जान।
नृप सिवसिंघ लखिमा बिरमान।"

ऐसी परिस्थितियों में विद्यापति को जो कुछ भी कहना था, वह शृंगार माध्यम से ही संभव था। प्रत्येक महाकवि अवसर की नब्ज पहचानता है और उसी अनुसार अपने संदेश का प्रसार और प्रचार करता है। महाकवि विद्यापति ने भी ऐ ही किया। इन्होंने शृंगार के द्वारा ही अपने संदेश को सुनाया।

इस में तनिक भी संदेह नहीं कि पदावली की रचना करते समय तत्कालीन असीम शृङ्गारिकता के विरुद्ध विद्यापति के हृदय में कुछ-कुछ क्षोभ अवश्य था जो आगे चलकर प्रार्थना और नचारी के पदों में फूट पड़ा। उदाहरणार्थ कुछ पद देखिए—

"किए मानुस पसु पखि भए जनमिए
अथवा कीट पतंग।
करम विपाक गतागत पुनु पुनु
मति रहु तुअ परसंग।"

अथवा—

"जावत जनम नहि तुअ पद सेविनु
जुवती मति मयं मेलि।
अमृत तजि हलाहल किए पीअल
सम्पद आपदहि भेलि।"

या—

"हर जनि बिसरब मो ममिता,
हम नर अधम परम पतिता।"

ऐसे पद किसी एक दिन की अनुभूति नहीं, बल्कि चिरसंचित विक्षोभ की प्रतिक्रिया है। इससे यह ज्ञात होता है कि पदावली की रचना करते समय भी विद्यापति के हृदय में इस प्रतिक्रिया के अंकुर अवश्य विद्यमान थे।

पदावली में सुभाषित वाक्य और अन्योक्ति

पदावली में ये अंकुर दो रूपों में देखे जा सकते हैं। एक तो सुभाषित वाक्यों के रूप में और दूसरे कथा की अन्योक्ति के रूप में। सुभाषित वाक्यों के उदाहरणार्थ इस प्रकार की पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती है—

"दुहु मुख हेरइत दुहु भेल भोर।
समय न बूझय अचतुर चोर।"

× × ×

"जकर हिरदय जतहि रतल से धसि ततही जाए।
जइओ जतने बाँधि निरोधिए निमन नीर थिराए।"

× × ×

"भनइ विद्यापति गाओल ना।
दुख सहि सहि सुख पाओल ना।"

× × ×

"असमय आस न पूरए काम।
भल जन कर कर न विरस परिनाम।"

× × ×

"कह कवि सेखर गरुअ भूल पर कह जल थोर अहार।
अइसन कुहु मन तलफइ पुन पुन उपजल अधिक विकार।"

× × ×

"भल विद्यावति सुनइ जुवती
साहस सफल काज।"

× × ×

"भनइ विद्यापति सुनु मथुरापति इ थिक अनुचित काज।
माँगि लायब वित से जदि हो नित अपन करब कौन काज।"

ऐसे सैकड़ों उदाहरण पदावली में खोजे जा सकते हैं।

अब रहा कथा का अन्योक्ति रूप। राधा और कृष्ण किसी अलौकिक अर्थ के प्रतिपादक नहीं, वरन् साधारण नायिका-नायक हैं। राधा के स्वरूप पर यदि दत्तचित्त होकर विचार किया जाए तो पदावली का सत्संदेश सहज ही प्रकट हो जाता है।

विद्यापति की राधा पाठकों के समक्ष उस समय आती है जब उसके बचपन पर यौवन की छाया गहनतर से गहनतम हो रही है। बाल्यकाल का स्वर्णिम लोक पीछे रह गया है और उसके पग यौवन के उन्मत्त जगत की ओर निरन्तर बढ़ते जाते हैं। वयःसंधि में शारीरिक परिवर्तनों के साथ-साथ मानसिक परिवर्तन स्वतः हो जाते हैं। राधा के विचारों में भी अस्त-व्यस्तता है। कभी बचपन की मधुर समीरण से वह सिहर उठती है तो कभी यौवन का झंझा उसे झिकझोर देता है। कुछ दिन तक तो यही किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता रहती है। फिर बाल्यकाल की अनधिकार चेष्टा समाप्त हो जाती है और उसके समस्त अंगों पर यौवन का एकाधिपत्य हो जाता है। वह समस्त सौन्दर्य-उपमानों को लेकर चमक उठती है। शरीर से युवती होने पर भी उसके भावलोक में बचपन का ही सारल्य रहता है। वह नहीं समझ पाती कि आखिर यह सब कुछ क्यों और कैसे हो रहा है। प्रकृति अनजाने ही उसे यौवन की मादकता की ओर धकेल देती है।

भावलोक की सरलता भी कितने दिन ठहरती? अंगों की दीप्ति के साथ-साथ मन में कामना का जग जाना भी स्वाभाविक है। अपनी सखी से सुरत-विहार की जानकारी करना अनौचित्य नहीं, प्रकृति का तकाजा है। सखी उसके इस भोलेपन का दुरुपयोग करती है। दूती की फुसलाहट में कोई सद्भावना नहीं, बल्कि उस भोली युवती को कृष्ण के जाल में किसी भी प्रकार फंसा देने का प्रयास ही परिलक्षित होता है।

किसी को बहकाने में सफल होना बच्चों का खेल नहीं। दूती वही सफल हो सकती है जो मनोविज्ञान की ज्ञाता होने के साथ-साथ अवसर की परख भी जानती हो।

वह कितनी कुशलता से अपनी बात शुरू करती है—

> "धनि-धनि रमनी जनम धनि तोर।
> सब जन कान्हु-कान्हु करि भूरिए,
> से तुअ भाव-विभोर॥"

जो कृष्ण सब की उपेक्षा कर राधा में अनुरक्त हो, इससे तीखा बाण राधा के लिए और क्या हो सकता है। अपने सौन्दर्य का मूल्यांकन करने वाले पुरुष के प्रति नारी का आकर्षित हो जाना स्वाभाविक ही है। राधा-कृष्ण की ओर झुकी तो सही, पर कुल की मर्यादा ने उसे सचेत करने का प्रयत्न किया। दूती ने राधा की इस द्विविधा को समझा और कहने लगी—

> "प्रथम सिरिफल गरब गमओलह,
> जों गुन गाहक आवे।
> गेल जीवन पुनु पलहि न आवए,
> केवल रह पछतावे।"

दूती स्वयं नारी होने से नारी-हृदय को भली-भांति समझने वाली है। नारी को अपनी प्रशंसा सबसे प्रिय वस्तु है। दूती ने यही बाण छोड़ा और साथ ही यौवन की क्षणभंगुरता से भी उसे अवगत कर दिया। राधा के हृदय में अधिक प्रभाव भरने के लिए दूती का अपना उदाहरण प्रस्तुत करना जितना स्वाभाविक है, उतना ही प्रभावशाली भी है—

> "तोहि सनि नारि दिवस दस अछलिहुँ।
> ऐसन उपजु मोहि भाने।"

यही नहीं, वह रूप-यौवन की सार्थकता भी बता देती है—;

> "जौवन रूप तावे घरि छाजत,
> जावे मदन अधिकारी।
> दिन दस गेले सखि सेहओ पराएत,
> सकल जगत परिचारी।"

और अंत में वह राधा को बता देती है कि कुलधर्म केवल ढकोसला है। यावज्जीवन स्नेह ही संसार में एक सारवस्तु है—

> "कुलवति धरम काँच समतूल।
> मदन-दलाल भेल अनुकूल॥"
>
> × × ×
>
> "एहि संसार सार वथु एक।
> तिला एक संगम जाव जिव नेह॥"

दूती का यह जादू राधा के सिर पर चढ़कर बोल ही जाता है। वह कृष्ण के

समक्ष आत्मसमर्पण कर देती है। कामना की सीढ़ियों से गुजरकर वह मुग्धा से प्रौढ़ा तक बन जाती है। वासना जितने खेल खिलाती है, उसे सभी खेलने पड़ते हैं। वह आकाश के सहस्रों चन्द्रमाओं को चुनौती देकर, गहनतम अंधेरी रात में विपदाओं को सहन करके और जीवन-मरण की भी चिन्ता न करके संकेत-स्थल पर पहुंच जाने वाली बन जाती है। यह सब उसकी सखियों की करामात है जिन्होंने राधा जैसी भोली युवती को वासना के अथाह सागर में धकेल दिया। जिस कृष्ण को वह कभी लंपट समझती थी, वही उसके लिए सर्वस्व बन जाता है।

लेकिन इस गुप्त प्रेम का अंत भयानक होता है। राधा के बार-बार आग्रह करने पर भी वे नहीं रुकते और उसे सोती छोड़कर चले ही जाते हैं। तब राधा की आंखें खुलती हैं। उसे अपनी वस्तुस्थिति का बोध होता है, यह सोचकर कि कृष्ण उससे नहीं, उसके सौन्दर्य से प्रेम करते थे—

"जौबन-रूप अछल दिनचारि।
से देखि आदर कएल मुरारि॥"

उसका हृदय क्षुब्ध हो जाता है। वह सबके सम्मुख रो भी तो नहीं सकती। गुप्त प्रेम के लिए यदि रोना ही है तो छिपकर रोना पड़ता है। वह भी ऐसा ही करती है—

"जामिनि आब अधिक जब होई।
बिगलित लाज उठए तब रोई॥"

उसे अपनी सखियों पर क्रोध आता है जिन्होंने 'मधु सम बचन कुलिस सम-मानस' वाले कृष्ण के जाल में उसे फंसाया—

"तोहर बचन सखि कएल आँखि देखि।
अमिय भरम-बिष पाने॥"

सखी के कहने पर विश्वास करके उसने अमृत के धोखे में विष का पान तो कर लिया था, किन्तु अब पश्चात्ताप के अतिरिक्त और उपाय ही क्या था—

"कुल-कामिनि छलौं कुलटा भए गेलौं,
तिनकर बचन लोभाई।
अपने कर हम मूंड़ मुड़ाएल,
कान्ह से प्रेम बढ़ाई॥"

अपने को कुल-कामिनी से कुलटा कहना नारी-हृदय के पश्चात्ताप की चरम सीमा है। अब आंसुओं की सरिता में स्नान करने के अतिरिक्त और चारा भी नहीं रह गया था—

"लोचन नीर तटिनि निरमाने।
करए कलामुखि तथिहि सनाने॥"

लेकिन इस स्नान में भी उसे शांति नहीं मिलती। वह जान गई थी कि उसने जो प्रेम किया, उसका परिणाम ही दुखद है जिससे उसे कहीं भी शांति नहीं मिल सकती —

> "सखि हे, मन्द प्रेम परिनामा।
> बड़ कए जीवन कएल पराधिनं,
> नहि उपचर एक ठामा।"

निष्कर्ष

राधा के प्रेम के अवसादान्त ही मे पदावली का संदेश निहित है। जो युवतियां यौवन के प्रवाह मे बहकर कामुक जनों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देती हैं, उनकी राधा जैसी ही गति होती है। इस संबंध मे डॉ० ओमप्रकाश के ये शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं—

"विद्यापति ने भी राधा का असफल प्रेम अवसादान्त दिखलाकर मानो नारि-जगत को चेतावनी दी है कि समाज के बन्धनों की उपेक्षा करके गुप्त प्रेम मत करो, अन्यथा सारा जीवन राधा के समान रो-रोकर ही काटना पड़ेगा।"[1]

यही पदावली का लोकपक्ष है।

---

१. आलोचना की ओर, पृष्ठ ७८

: १६ :

विद्यापति का मूल्यांकन

साहित्य के इतिहास में किसी भी कवि का स्थान-निर्धारण करने के लिए मुख्य-रूप से तीन प्रश्नों पर ध्यान देना होता है—

१. उस कवि ने पूर्ववर्ती कवियों के प्रभाव को किस प्रकार ग्रहण किया और कितनी अपनी मौलिकता का योग किया ?

२. उसके परवर्ती कवि उससे किस सीमा तक प्रभावित हुए ?

३. जन-सामान्य में उस कवि का कितना समादर हुआ ?

पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

विद्यापति से पूर्व हिन्दी-साहित्य की अपनी कोई विशेष परंपरा न थी, फलतः ये संस्कृत-परंपरा के कवियों से ही प्रभावित हुए जिनमें महाकवि माघ, अमरुक, गोवर्धनाचार्य, कालिदास और जयदेव का नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। इन कवियों से प्रभाव-ग्रहण करके भी विद्यापति ने अपनी काव्य-प्रतिभा के बल पर उसे और भी अधिक हृदयग्राही बना दिया है। यही कवि की महानता है।[१]

परवर्ती कवियों पर प्रभाव

पूर्ववर्ती कवियों से प्रभाव-ग्रहण की अपेक्षा परवर्ती कवियों को प्रभावित करना किसी कवि की महानता की परख करने के लिए अधिक खरी कसौटी है। विद्यापति हिन्दी-साहित्य के आदि कवि हैं। उस समय से लेकर आजतक न जाने कितने कवि-नक्षत्र साहित्याकाश में चमके और विलीन हुए, पर विद्यापति की भांति बहुत कम कवियों का प्रकाश अक्षुण्ण बना रह सका है। काव्य-रूप की दृष्टि से विद्यापति के काव्य को दो वर्गों में रक्खा जा सकता है—मुक्तक काव्य और गीतिकाव्य। मुक्तकशैली का प्रभाव रीतिकालीन कवियों पर विशेष रूप से परिलक्षित होता है जिनमें विहारी, देव, मतिराम आदि प्रमुख हैं। हिन्दी-साहित्य में इन कवियों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु विद्यापति से प्रभाव ग्रहण करके भी ये कवि उस प्रभाव को विद्यापति की अपेक्षा अधिक सशक्त, सजीव और मर्मस्पर्शी न बना पाये।[२]

---

१. विशेष परिचय के लिए 'पूर्ववर्ती प्रभाव' शीर्षक देखिए

२. विशेष परिचय के लिए 'विद्यापति का मुक्तक काव्य' शीर्षक देखिए

विद्यापति के काव्य का दूसरा रूप है गीतिकाव्य। इनके पदों में गीत की सभी विशेषताएं अपने सहज और स्वाभाविक रूप में प्रस्फुटित हुई हैं। उन्हें लाने के लिए कवि के मस्तिष्क को किसी प्रकार का आयास नहीं करना पड़ा है। काव्य के क्षेत्र में जब हृदय पर चढ़कर मस्तिष्क बोलने लगता है तो काव्यत्व को आघात पहुँचता है। विद्यापति का काव्य इस आघात से सर्वथा शून्य उस कोमल कलकल-छलछल करके बहने वाली निर्झरिणी के समान है जिसका प्रवाह सहज और गतिमय है। यदि यह कहा जाय कि हिन्दी-साहित्य की गीति-परम्परा के जनक महाकवि विद्यापति ही हैं तो अनुप युक्त न होगा। इनकी गीति-परम्परा में कबीर, तुलसी, सूर, मीराँ, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, महादेवी आदि अनेक भक्तिकालीन और आधुनिककालीन कवि आते हैं। यह विद्यापति के परवर्ती प्रभाव का प्रसार है। विद्यापति की गीति-परम्परा में आकर भी ये कवि विद्यापति जैसी गीति-धारा को प्रवाहित करने में अपेक्षाकृत पीछे ही रह गये हैं। विद्यापति के गीतों में जो संगीतात्मकता, लयात्मकता, रागात्मक अनुभूति और समाहित प्रभाव आदि गीति-तत्वों का पुंज है, वह इन कवियों में प्राप्त नहीं होता।[1]

जनता पर प्रभाव

तीसरी कसौटी है जनता पर प्रभाव की। सच पूछो तो किसी कवि का सही मूल्यांकन करने के लिए यही कसौटी सबसे खरी है। जनता के माध्यम से ही कवि अमर बनता है। जो कवि जनता का कंठहार न बन सके, वह चाहे कितना ही महान् क्यों न हो, उसका पांडित्य चाहे कितना ही प्रखर क्यों न हो, शिक्षित समाज की परिधि में ही बंधकर रह जाता है, और धीरे-धीरे इस परिधि की सीमाएं भी सिकुड़ती जाती हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी के केशव कवि को लिया जा सकता है। वे हिन्दी के रीतिकाल के प्रवर्त्तक होते हुए भी जनता से वह समादर न पा सके जो कुछ छोटे-मोटे कवियों को मिल सका है। तुलसी के लोकनायकत्व का सबसे प्रबल आधार जनता द्वारा उनका समादर ही है।

इस कसौटी पर भी विद्यापति खरे ही उतरते हैं। जनता में इनका जितना समादर हुआ, और है, वह तुलसी को छोड़कर हिन्दी में और किसी को प्राप्त नहीं हुआ। कबीर के पदों को गुनगुनाते तो कुछ कबीर पंथी ही मिल सकेंगे, लेकिन विद्यापति के पदों को भोगी और योगी सभी ने सम्मानपूर्वक ग्रहण किया है। जयदेव का गीत-गोविन्द चाहे अपनी इस शर्त को पूरा न करता हो——

"यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्त पदावलीं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥"

पर विद्यापति की पदावली जितना 'नागर' का मन मोहने में समर्थ है, उतना ही भक्तों

१. विशेष परिचय के लिए 'विद्यापति की गीतिकला' शीर्षक देखिए

को अलौकिक आनन्द का आस्वादन भी करा सकती है। एक ओर रसिकजन विद्यापति के पदों में डूब जाते हैं तो दूसरी ओर महाप्रभु चैतन्य जैसे भक्तप्रवर भी उन्हें सुनकर भाव-विभोर होकर मूर्च्छित हो जाते हैं। जीवन के दो नितान्त विभिन्न छोरों को छूकर चलने वाली कविता विश्व-साहित्य के कितने महाकवियों द्वारा प्रणीत हुई है ? संभवतः ऐसे कवि खोजने पर भी न मिल सकें। पर विद्यापति की यह काव्य-क्षमता समझिए अथवा बहुमुखी प्रतिभा का चमत्कार; इनका काव्य काव्य-शास्त्रियों को जितना भावों में लीन कर सकता है, साधारण जनता को अपनी अप्रतिम सरलता के कारण उतना ही ग्राह्य जान पड़ता है। सरलता में रीति और रीति में सरलता गूंथ देना बच्चों का खेल नहीं। इसके लिए प्रकांड पांडित्य और अथाह भावधारा अपेक्षित है। हृदय और मस्तिष्क का ऐसा सुन्दर तथा समुचित समन्वय जन्मजात कवियों (Born Poets) से ही संभाव्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि विद्यापति की पदावली में यह अभूतपूर्व सामञ्जस्य प्राप्य है।

इनके इसी सामञ्जस्य ने भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों को इन्हें अपनाने के लिए विवश कर दिया। मैथिल वाले इन्हें अपना ही मान बैठे, बंगवासियों ने इनपर अपना एकाधिपत्य घोषित किया तो हिन्दी वाले भी इस खींच-खचेड़ में पीछे न रहे। यद्यपि मस्तिष्क के तर्कों ने आज इस खींच-खचेड़ को कुछ ढीला अवश्य कर दिया है, तथापि हृदय की भावुकता अभी तक विद्यापति को उसी शक्ति और दुराग्रह के साथ पकड़े हुए है। जनता के द्वारा समादृत काव्य का इससे प्रबल प्रमाण और क्या हो सकता है ?

कहने का अभिप्राय यह है कि एक कवि की महानता की जितनी भी कसौटियां हो सकती हैं, उन सब पर ही विद्यापति खरे उतरते हैं। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का यह विश्वास और धारण अनुचित नहीं है—

"हिन्दी-साहित्य की जब भी ऐतिहासिक प्रमाणों से ही छान-बीन की जाएगी तो यह निष्कर्ष आज नहीं तो कल हिन्दी-साहित्य के इतिहासज्ञों को निकालना ही पड़ेगा कि हिन्दी-साहित्य की परंपरा की दृष्टि से विद्यापति उसके आदि कवि हैं।"

विद्यापति-पदावली

[विद्यापति के प्रमुख सौ पदों का टिप्पणी-सहित-संग्र

शिव स्तुति

(१)

जय जय शंकर जय त्रिपुरारि । जय जय अध पुरुष जयति अध नारी ॥
आध धवल तन आधा गोरा । आध सहज कुच आधा कटोरा ॥
आध हड़माल आध गजमोती । आध चानन स्थोहै आध विभूति ॥
आध चेतन मति आधा भोरा । आध पटोर आध मुंज डोरा ॥
आध जोग आध भोग विलासा । आध पिधान आध नग बासा ॥
आध चान आध सिन्दूर सोभा । आध विरूप आध जग लोभा ॥
भने कविरतन विधाता जाने । दुइ कए बाँटल एक पराने ॥

(२)

हर जनि बिसरब मों ममिता । हम नर अधम परम पतिता ॥
तुअ सन अधम उधार न दोसर । हम सन जग नहिं पतिता ॥
जम के द्वार जवाब कुओन देब । जखन बुझत निज सुनकर बतिया ॥
जब जम किंकर कोपि पठाएत । तखन के होत धर हरिया ॥
भन विद्यापति सुकवि पुनित । मति संकर विपरित बानी ॥
असरन सरन चरन सिर नाओल । दया करू दिय सुलपानी ॥

(३)

कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ ।
दुखहि जनम भेल दुखहि गमाएब, सुख सपनहु नहिं भेले, हे भोला० ।
आछत चानन अवर गंगाजल, बेलपात तोहि देब, हे भोला० ।
यहि भवसागर थाह कतहु नहिं, भैरब धरु कर आये, हे भोला० ।
भन विद्यापति मोर भोलानाथ गति, देहु अभय बर मोहिं, हे भोला० ।

---

१. धवल—स्वच्छ । आध कटोरा—एक कटोरे के समान वेडोल । हड़याल—अस्थिमाला । विभूति—भस्म । भोरा—भांग से मदमस्त । पटोर—पाटम्बर, रेशमी वस्त्र । पिधान—आवरण । नग पासा—दिगम्बर, वस्त्र रहित । चान—चन्द्रमा पराने—प्राण ।

२. जनि—मत । कुओन देब—क्या दूंगा । बतिया—बात । किंकर—सेवक तखन—उस समय, तत्क्षण । सुलपानी—महादेव ।

३. कखन—कब । आछत—अक्षत, चावल । अवर—और । धरु कर—हाथ पकड़कर सहारा दो ।

(४)

सिव हो उतरब पार कश्रोन विधि ।
लोढब कुसुम तोरब बेलपात, पुजब सदासिव गौरिक सात ॥
बसहा चढल सिव फिरहु मसान, भगिया जरठ दरदो नहि आन ॥
जप तप नहि कैलहुँ नितदान, बित गेला तिन पन करइत श्रान ॥
भन विद्यापति सुन हे महेस, निरधन जानि के हरहु कलेस ॥

(५)

भल हरि भल हरि भल तुश्रकला, खन पित वसन खनहिं बघछला ॥
खन पचानन खन भुज चारि, खन संकर खन देव मुरारि ॥
खन गोकुल भए चराइश्र गाय, खन भिख माँगिए डमरू बजाय ॥
खन गोविन्द भए लिश्र महिदान, खनहिं भसय भरु काँख बोकान ॥
एक सरीर लेल दुइ बास खन, बैकुण्ठ खनहिं कैलास ॥
भन विद्यापति बिपरित बानि, श्रो नारायण श्रो सुलपानी ॥

नचारी और महेशबाजी

(६)

श्रागे माई एहन उमत वर लाइल हिमगिरि देखि देखि लगइछ रंग ॥
एहन उमत वर घोडबो न चढइक जो घोड रंग रंग जंग ॥
बाघक छाल जे बसहा पलानल साँपक भीरल तंग ॥
डिमक डिमक जे डमरू बजाइन खटर खटर करु श्रंग ॥
भकर भकर जे भाग भको सथि छटर पटर करु गाल ।
चानन सों श्रनुराग न थिकइन भसम चढावथि भाल ॥
भूत पिसाच श्रनेक दल साजल, सिर सों बहि गेल गंग ॥
भनइ विद्यापति सुन ए मनाइनि, थिकाह दिगम्बर श्रंग ॥

---

४. लोढब—चुनूँगा । गौरिक सात—पार्वती के साथ । बसहा—बैल । जरठ—बुड्ढा । कैलहुँ—किया । श्रान—अन्य (सांसारिक बातें) ।

५. भल—उत्तम । हरि—शिव । खन—क्षण में । बघछला—व्याघ्र का चर्म । चराइश्र—चराते हैं । लिश्र—लेते हैं । काँख—बगल । सुलपानि—शूलपाणि, शिव ।

६. एहन—ऐसा । उमत वर—उन्मत्त दूल्हा । लैलन—लाये । लगइछ रंग—आश्चर्य होता है । बसहा—बैल । रंग—हँसी । पलानल—फैलाया हुश्रा, जीन बनाये हैं । भीरल—बंधी है । तंग—घोड़ा कसने का चमड़ा । चानन—चन्दन । थिकइन—है । थिकाह—है । मनाइनि—मेनका (पार्वती की माता) ।

(७)

हम नहिं आज रहब यहि आंगन जो बुढ़ होत जमाई-गे माई।
एक न बइरि भेला बीध विधाता दोसरे धिया कर बाप।
तीसरे बइरि भेला नारद बाभन जै बूढ़ आनल जमाई, गे माई॥
पहिलुक बाजन डामरू तोरब दोसरे तोरब रुंड माला।
बरद हांकि बरिआत बेलाइब, धिआ ले जाएब पराई, गे माई॥
धोती लोटा पतरा पोथी एहों सभ लेबन्हि छिनाई।
जौ किछु बजता नारद बाभन, दाढ़ी दे घिसिआएब, गे माई॥
भन विद्यापति सुनु हे मनाइन, हड़ कह अपन गे आन।
सुभ सुभ कए सिरी गौरी बिआहू गौरी हरएक सभाव, गे माई॥

(८)

नाहि करब बर हर निरमोहिया,
बित्ता भरि तन बसन न तिन्हका, बघ छल काँख तर रहिया।
बनबन फिरथि मसान जगावथि, घर-आंगन उ बनौलन्हि कहिया।
सास ससुर नहिं ननद जेठौनी, जाए बैठति धिआ केकरा ठहिया।
बढ़ बरद, ढ़कढ़ोल गोल एक, सम्पति मांगत झोरिया।
भनइ विद्यापति सुन हे मनाइन, सिव सन दानि जगत के कहिया।

(९)

जोगिया एक हम देखलों गे माई, अनहद रूप कहलों नहिं जाई।
पंच बदन तिन नयन विसाला, बसन विहुन ओढ़न बघछाला॥
सिर बहे गंग तिलक सोहे चन्दा, देखि सरूप मिटल दुख दंदा।
जाहि जोगिया लै रहलि भवानी, मन आनलि बर कौन गुन जानी॥
कुछ नहिं सिल नहि तात महतारी, बएस दिनक थिक लछु जुग चारी।
भन विद्यापति सुन ए मनाइनि, एहो जोगिया थिक त्रिभुवन दानी॥

---

७. बइरि—बैरी, शत्रु। बीध—वृद्ध। धिया—लड़की। बाभन—ब्राह्मण। आनल—लाया। बरद—बैल। बेलाइब—भगा दूंगी। पराई—भगाकर। बजता—रोकना।

८. बित्ता—बालिश्त। बनौलन्हि कहियाँ—कहीं पर भी निर्मित नहीं किया है। ठहिया—आधार, सहारा। ढ़कढ़ोल—डमरू। के—कौन। कहिया—कहाँ।

९. अनहद—हद अथवा सीमा से रहित। बएस—आयु। थिक—है। लछु—लाख।

(१०)

आज नाथ एक बर्त्त माहि सुख लागत हे।
तोहें शिव धरि नट वेष, कि डमरू बजाएब हे॥
भल न कहल गउरा रउरा आजसु नाचब हे।
सदा सोच मोहि होत कवन विधि बाचब हे॥
जे जे सोच मोहि होत कहा समुझाएब हे।
रउरा जगत के नाथ कवन सोच लगाए हे॥
नाग ससरि भुमि खसत पुहुमि लोटाएत हे।
गनपति पोसल मजूर से हो धसि खाएत हे॥
अमिअ चूइ भूमि खसत बघम्बर जागत हे।
होत बघम्बर बाघ बसह धरि खाएत हे॥
टूटि खसत रुदराछ मसान जगावत हे।
गौरी कहँ दुख होत विद्यापति गावते हे॥

देवी-स्तुति

(११)

जय जय भैरवि असुर भयाउनि पशुपति भामिनी माया।
सहज सुमति वर दिअओ गोसाउनि अनुगति गति तुअ पाया॥
बासर रैनि सवासन सोभित चरन, चन्द्रमनि चूड़ा।
कतओक दैत्य मारि मुंह मेलल, कतओ उगिल कैल कूड़ा॥
सामर बरन नैन अनुरंजित, जलद-जोग फुल कोका।
कट कट विकट ओठ-पुट पाडरि लिधुर फेन उठ फोका॥
धन-धन धनए 'घुघुर' कत बाजए हन-हनकर तुअ काता।
विद्यापति कवि तुअ पद सेवक, पुत्र बिसरु जनि माता॥

१०. बर्त्त—व्रत या बात। गउरा—गौरी। बाँचब—बचेगा। रउरा—आपका। नाग·····खसत—सर्प खिसककर पृथ्वी पर गिर जावेगा। ससरि—खिसककर। पुहुमि—भूमि में। मजूर—मयूर। अमिअ·····खसत—अमृत चूकर पृथ्वी पर गिर पड़ेगा। रुदराछ—रुद्राक्ष, जोगियों के गले में पड़ी हुई माला के दाने।

११. असुर भयाउनि—राक्षसों को भय देने वाली। दिअओ—दीजिये। गोसाउनि—देवी। पाया—पैर, चरण। बासर—दिन। सवासन—शवासन, मुर्दे पर आसीन। चूड़ा—सिर। कतओक—कितनों को। मेलल—डाल लिया। जलद·····कोका—बादल में कमल पुष्पित हो। पाडरि—पलाश की जाति का लाल फूल। फोका—बुलबुला। काता—देवी के हाथ में सज्जित एक विशेष अस्त्र।

गंगा-स्तुति

(१२)

ब्रह्म कमण्डलु वास सुवासिनी सागर नागर गृह बाले ।
पातक महिप विदारण कारण धृत करवाल बीचि माले ।
जय गंगे जय गंगे शरणागत भय भंगे ॥
सुर मुनि मनुज रचित पूजोचित कुसुम विचित्रित तीरे ।
त्रिनयन मौलि जटायच चुम्बित भूति भूषित सित नीरे ॥
हरिपद कमल गलित मधु सोदर पुण्य पुनित सुरलोके ।
प्रविलसदामर पुरी-पद दान-विधान विनाशित शोके ॥
सहज दयालुतया पातकि जन नरक विनाशन निपुणे ।
रुद्रसिंह नरपति वरदायक विद्यापति कवि भणित गुणे ॥

हरि-कीर्त्तन

(१३)

माधव कत तोर करब बड़ाई ।
उपमा तोहर कहब ककरा हम, कहि तहुँ अधिक लजाई ॥
जौ श्रीखण्ड सौरभ अति दुर्लभ तौ पुनि काठ कठोर ।
जौ जगदीश निसाकर तौ पुन एकहि पच्छ उजोर ॥
मनि समान औरो नहि दोसर तनिकर पाथर नामे ।
कनक कदलि छोट लज्जित भए रहु की कहु ठामहि ठामे ॥
तोहर सरिस एक तोहँ माधव मन होइछ अनुमान ।
सज्जन जन सौं नेह कठिन थिक कवि विद्यापति भान ॥

---

१२. धृत करवाल—तलवार धारण किये हुए । बीचि माले—तरंगों से युक्त । भंगे—दूर करने वाली । त्रिनयन—महादेव । मौलि—सिर । गलित—निकलने वाला । मधु सोदर—पुष्प-रस के समान । पुनित—पवित्र करने वाली । प्रविल-सदामर पुरी पद—स्वर्गलोक प्राप्त होता है ।

१३. ककरा—कौन । जौ श्रीखण्ड—यदि चन्दन से उपमा दें । मनि समान—बहुमूल्य होने के कारण मणि से उपमा दी जाये तो ।

(१४)

माधव बहुत मिनति कर तोय।
दए तुलसी तिल देह समर्पिनु दया जनि छाड़बि मोय॥
गनइत दोसर गुन लेस न पाम्रोबि जब तुहुँ करबि बिचार।
तुहु जगत जगनाथ कहा आमि जग बाहिर नहं छार॥
किए मानुस पसु पखि भए जनमिए अथवा कीट पतंग।
करम विपाक गतागत पुनु पुनु मति रह तुम्र परसङ्ग॥
भनइ विद्यापति अतिसय कातर तरइत इह भवसिंधु।
तुम्र पद-पल्लव करि अवलंबन तिल एक देह दिन-बंधु॥

(१५)

तातल सैकत बारि-बिन्दु सम सुत-मित रमनि समाज।
तोहे बिसारि मन ताहे समरपिनु अब मभु हब कोन काज॥
माधव हम परिनाम निरासा।
तुहुँ जगतारन दीन-दयामय अतए तोहर बिसवासा॥
आध जनम हम नींद गमायनु जरा सिसुकत दिन गेला।
निधुवन-रमनि-रभस-रङ्ग मातुनु तोहे भजब कोन बेला॥
कत चतुरानन मरि-मरि जाम्रोब न तुम्र आदि अवसाना।
तोहे जनमि पुनि तोहे समाम्रोत सागर लहरि समाना॥
भनइ विद्यापति सेष समन भय तुम्र बिनु गति नहि आरा।
आदि अनादिक नाथ कहाम्रोसि अब तारन भार तोहारा॥

---

१४. दए....समर्पिनु—अन्तिम समय मे जब मुख मे तुलसी तथा गोदान के लिये हाथ मे तिल दिया जाय। गनइत......बिचार—ज्यों-ज्यों आपका स्मरण करता हूँ त्यों-त्यों दूसरों मे किंचित् मात्र भी गुण नहीं दिखाई पड़ते। तुहु......छार—तुम स्वयं ही संसार हो, संसार के नियामक भी हो और इस जगत् के अतिरिक्त तुम कुछ नहीं हो। करम विपाक—कर्मों के फलस्वरूप। तिल एक देह—(अपने चरणों मे) तिल भर (थोड़ा सा) स्थान दे दो।

१५. तातल......समाज—तप्त बालू पर पड़ी हुई जलबिन्दु की तरह पुत्र, मित्र और रमणी-समाज क्षण-भंगुर है। अतए—अतएव। गमायनु—बिताया। निधुवन—वैभव-विभूति। रभस-रङ्ग—काम-क्रीड़ा। मातुनु—उन्मत्त। सेष—मृत्यु। कत—कितने। चतुरानन—ब्रह्मा। आरा—अन्य।

(१६)

जतने जतेक धन पाये बटोरल मिलि मिलि परिजन खाय ।
मरनक बेरि हरि कोई न पूछए करम संग चलि जाय ॥
ए हरि, बन्दौ तुअ पद नाय ।
तुअ पद परिहरि पाप पयोनिधि पारक कओन उपाय ॥
जावत जनम नहिं तुअ पद सेबिनु जुवती मति मयँ मेलि ।
अमृत तजि हलाहल किए पीअल सम्पद अपदहिं भेलि ॥
भनइ विद्यापति नेह मने गनि कहल कि बाढ़ब काजे ।
साँझक बेरि सेवकाई मँगइत हेरइत तुअ पद लाजे ॥

जानकी-वंदना

(१७)

ने. नरनाह सतत भजु ताहि । ताहि, नहिं जननि जनक नहिं जाहि ॥
वसु नइहरा ससुरा के नाम । जननिक सिर चढ़ि गेल बहि गाम ॥
सासुक कोर में सुतल जमाय । समधि बिलह तो बिलहल जाय ॥
जाहि ओदर से बाहर भेलि । से पुनि पलटि ततय चलि गेलि ॥
भन विद्यापति सुकवी भान । कवि के कवि कहँ कवि पहचान ॥

---

१६. जतने—यत्न से । जतेक—जितना । बटोरल—इकट्ठा । परिजन—बान्धव । नाय—नाव । पाप·····पाय—पाप रूपी समुद्र को पार करने का कौन उपाय है । हलाहल—विष । किए—क्यों । पिअल—पिया । साँझक—सायंकाल । बेरि—समय ।

१७. नरनाह—राजा । जननि·····जाही—माता-पिता-हीना । नइहरा—मायका । कोर—गोद में । जाहि—जिस । ओदर—गर्भ । ततय—वहीं । बहिगाम—अयोध्या ।

(१४)

माधव बहुत मिनति कर तोय ।
दए तुलसी तिल देह समर्पिनु दया जनि छाडबि मोय ॥
गनइत दोसर गुन लेस न पाग्रोबि जब तुहुँ करबि बिचार ।
तुहू जगत जगनाथ कहा ग्रामि जग बाहिर नई छार ॥
किए मानुस पसु पखि भए जनमिए ग्रथवा कीट पतग ।
करम विपाक गतागत पुनु पुनु मति रहु तुग्र परसङ्ग ॥
भनइ विद्यापति ग्रतिसय कातर तरइत इह भवसिंधु ।
तुग्र पद-पल्लब करि ग्रवलबन तिल एक देह दिन-बधु ॥

(१५)

तातल सैकत बारि-बिन्दु सम सुत-मित रमनि समाज ।
तोहे बिसारि मन ताहे समरपिनु ग्रब मझु हब कोन काज ॥
माधव हम परिनाम निरासा ।
तुहुँ जगतारन दीन-दयामय ग्रतए तोहर बिसवासा ॥
ग्राध जनम हम नीद गमायनु जरा सिसुकत दिन गेला ।
निधुवन-रमनि-रभस-रङ्ग मातुनु तोहे भजब कोन बेला ॥
कत चतुरानन मरिमरि जाग्रोब न तुग्र ग्रादि ग्रवसाना ।
तोहे जनमि पुनि तोहे समाग्रोत सागर लहरि समाना ॥
भनइ विद्यापति सेप समन भय तुग्र बिनु गति नहि ग्रारा ।
ग्रादि ग्रनादिक नाथ कहाग्रोलि ग्रब तारन भार तोहारा ॥

---

१४. दए ……समर्पिनु—ग्रन्तिम समय मे जब मुख मे तुलसी तथा गोदान के लिये हाथ मे तिल दिया जाय । गनइत ……विचार—ज्यो-ज्यो ग्रापका स्मरण करता हूँ त्यो-त्यो दूसरो मे किंचित् मात्र भी गुण नही दिखाई पडते । तुहू ……छार—तुम स्वय ही ससार हो, ससार के नियामक भी हो ग्रौर इस जगत् के ग्रतिरिक्त तुम कुछ नही हो । करम विपाक—कर्मो के फलस्वरूप । तिल एक देह—(ग्रपने चरणो मे) तिल भर (थोडा सा) स्थान दे दो ।

१५ तातल……समाज—तप्त बालू पर पडी हुई जलबिन्दु की तरह पुत्र, मित्र ग्रौर रमणी-समाज क्षण-भगुर है । ग्रतए—ग्रतएव । गमायनु—बिताया । निधुबन—वैभव-विभूति । रभस-रङ्ग—काम-क्रीडा । मातुनु—उन्मत्त । सेप—मृत्यु । कत—कितने । चतुरानन—ब्रह्मा । ग्रारा—ग्रन्य ।

(१६)

जतने जतेक धन पाये बटोरल मिलि मिलि परिजन खाय।
मरलक बेरि हरि कोई न पूछए करम संग चलि जाय॥
ए हरि, बन्दो तुअ पद नाय।
तुअ पद परिहरि पाप पयोनिधि पारक कओन उपाय॥
जावत जनम नहि तुअ पद सेविनु जुवती मति मयँ मेलि।
अमृत तजि हलाहल किए पीअल सम्पद अपदहिं भेलि॥
भनइ विद्यापति नेह मने गनि कहल कि बाढ़व काजे।
साँझक बेरि सेवकाई मँगइत हेरइत तुअ पद लाजे॥

जानकी-वंदना

(१७)

ऐ नरनाह सतत भजु ताहि। ताहि, नहिं जननि जनक नहिं जाहि॥
बसु नइहरा ससुरा के नाम। जननिक सिर चढ़ि गेल बहि गाम॥
सासुक कोर में सुतल जमाय। समधि बिलह तो बिलहल जाय॥
जाहि ओदर से बाहर भेलि। से पुनि पलटि ततय चलि गेलि॥
भन विद्यापति सुकवी भान। कवि के कबि कहुँ कवि पहचान॥

---

१६. जतने—यत्न से। जतेक—जितना। बटोरल—इकट्ठा। परिजन—
न्धव। नाय—नाव। पाप······पाय—पाप रूपी समुद्र को पार करने का कौन
पाय है। हलाहल—विप। किए—क्यों। पिअल—पिया। सांझक—सायंकाल।
रि—समय।

१७. नरनाह—राजा। जननि······जाही—माता-पिता-हीना। नइहरा—
ायका। कोर—गोद में। जाहि—जिस। ओदर—गर्भ। ततय—वहीं। वहिगाम—
ग्रयोध्या।

व्यक्तिगत

(१८)

उगना है मोर कतय गेला। कतय गेला शिव कि दहु भेला॥
भाँग नहि बटुआ रुसि बैसलाह। जोहि आनि देल हँसि उठलाह॥
जो मोर कहता उगना उदेस। ताहि देब कर कगना बेस॥
नन्दन वन मे भेटल महेश। गौरी मन हरषित मेटल कलेश॥
विद्यापति भन उगना सों काज। नहि हितकर मोर त्रिभुवन राज॥

(१९)

सपन देखल हम सिवसिंघ भूप। बतिस बरस पर साँवर रूप॥
बहुत देखल गुरुजन प्राचीन। आब भेलहुँ हम आयु विहीन॥
सिमटु सिमटु निअ लोचन नीर। ककरहु काल न राखथि थीर॥
विद्यापति सुगतिक प्रस्ताव। त्याग के करुणा रसक स्वभाव॥
दुल्लहि तोर कतय छथि माय। कहु न ओ आबथु एखन नहाय॥
वृथा बुझथु संसार बिलास। पल पल नाना तरहक त्रास॥
माय बाप जों सदगति पाव। सतति को अनुपम सुख आव॥
विद्यापतिक आयु अवसान। कातिक धवल त्रयोदसि जान॥

---

१८. उगना (उदना)—विद्यापति का सेवक; किंवदन्ती है कि विद्यापति से प्रसन्न होकर शिवजी ने इस शर्त पर उसके साथ रहना स्वीकार किया कि वह किसी से इस भेद को न खोले। एक दिन स्त्री ने सेवक पर जलती लकड़ी का प्रहार किया। यह देखकर विद्यापति ने कहा—"साक्षात् शिव के अंग पर प्रहार।" बस उगना अदृश्य हो गया। कतय—कहाँ। कहुँ—न जाने। बैसलाह—बैठता था। उठलाह—उठता था। उदेस—समाचार।

१९. आब—अब। सिमटु—रोको। ककरहु—किसी को भी। सुगतिक प्रस्ताव—शुभगति के लिए भगवान् से याचना। (मृत्यु से कुछ समय पूर्व विद्यापति ने ३२ वर्ष पूर्व मरे हुए राजा शिवसिंह का सौन्दर्य-प्रसाधन-सज्जित रूप देखा। इसमें राजा गौर वर्ण के थे। इस प्रकार के स्वप्न प्रायः मृत्यु सूचक होते हैं।)

शृंगार

वयः संधि

(२०)

ससव जौवन दरसन भेल । दुहु पथ हेरइत मनसिज गेल ॥
मदन क भाव पहिल परचार । भिन जन देल भिन्न अधिकार ॥
कटिक गौरव पाओल नितंब । एक क खीन अओक अवलम्ब ॥
प्रगट हास अब गोपत भेल । उरज प्रगट अब तन्हिक लेल ॥
चरन चपल गति लोचन पाव । लोचन क धैरज पदतल जाव ॥
नत कवि सेखर कि कहइत पार । भिन भिन राज भिन्न बेवहार ॥

(२१)

सैसव जौवन दरसन भेल । दुहु दल-वले दन्द परिगेल ॥
कबहुँ बाँधय कच कबहुँ बिथारि । कबहुँ झाँपय अंग कबहुँ उघारि ॥
अति थिर नयन अथिर किछु भेल । उरज-उदय-थल लालिम देल ॥
चंचल चरन चंचल चित भान । जागल मनसिज मुदित नयान ॥
विद्यापति कह सुनु वर कान । धैरज धरह मिलायब आन ॥

(२२)

खने खन नयन कोन अनुसरई । खने खन बसन धूलि तनु भरई ॥
खने खन दसन छुटा छुटहास । खने खन अधर आगे गहु बास ॥
चउंकि चलए खने खन चलु मंद । मनमथ पाठ पहिल अनुबन्ध ॥
हिरदय मुकुल हेरि हेरि थोर । खने आँचर दए खने होय भोर ॥
बाला सैसव तारुन भेंट । लखए न पारिअ जेठ कनेठ ॥
विद्यापति कह सुनु वर कान । तरुनिम सैसव चिन्हइ न जान ॥

---

२०. दुहु......गेल—दोनों को मार्ग में देखते हुए कामदेव ने नायिका के शरीर में प्रवेश किया। पहिल परचार—प्रथम प्रवेश। कटिक—कमर। गौरव—गुरुता। खीन—क्षीण, पतला। अओक—दूसरे का। गोपत—गुप्त। तन्हिक—उसका। पार—सकना।

२१. दन्द—द्वन्द्व, युद्ध। परिगेल—ठन गया। कच—केश। बिथारि—फैला देना। उदय-थल—उगने का स्थान। देल—दिया। भान—प्रतीत हुआ। मुदित—बन्द। नयान—नयन, आँखें। कान—कृष्ण। मिलायब—मिला दूंगा। आन—लाकर।

२२. खने खन—क्षण-क्षण। कोन अनुसरई—कटाक्ष करती है। बास—वस्त्र। अनुबन्ध—भूमिका। मुकुल—कली। कनेठ—कनिष्ठ, छोटा। तरुनिम—जवानी। चिन्हइ—पहचान, अभिज्ञान।

(२३)

किछु किछु उतपति अंकुर भेल। चरन चपल-गति लोचन लेल ॥
अब सब खन रह आँचर हाथ। लाजए सखिगन न पुछए बात ॥
कि कहब माधव वयसक संधि। हेरइत मनसिज न रहु बंधि ॥
तइअओ काम हृदय अनुपाम। रोपल घट उँचल कए ठाम ॥
सुनइत रस-कथा थापए चीत। जइसे कुरङ्गिनि सुनए संगीत ॥
सैसव जौवन उपजल वाद। केओ न मानए जय अवसाद ॥
विद्यापति कौतुक वलिहारि। सैसव ते तनु-छोड नहि पारि ॥

नख-शिख वर्णन

(२४)

पीन पयोधर दूबरि गता। मेरु उपजल कनक लता ॥
ए कान्हु ए कान्हु तोरि दुहाई। अति अपुरुब देखलि साई ॥
मुख मनोहर अधर रंगे। फुतलि मधुरी कमल संगे ॥
लोचन जुगल भृङ्ग आकारे। मधु क मातल उडए न पारे ॥
भउंह क कथा पुछह जनू। मदन जोडल काजर धनू ॥
भन विद्यापति दूती बचने। एत सुनि कानु कएल गमने ॥

---

२३. अंकुर—कुचों की प्राथमिक अवस्था। तइअओ—तथापि। थापए—स्थापित। कुरङ्गिनी—हिरणी। उपजल बाद—विवाद पैदा हो गया।

२४. पीन—पुष्ट, मोटे। गता—गात, शरीर। मेरु—पर्वत। अपुरुब—अपूर्व। साई—उसे। मधुरी—अल्पाकार का लाल फूल। मधु क मातल—मधु पीकर मस्त। भउंह—भौं। काजर—काजल। एत—इतना।

(२५)

कि आरे नव जौवन अभिरामा।
जत देखल तत कहए न पारिअ छओ अनुपम एक ठामा ॥
हरिन इन्दु अरविंद करिनि हेम पिक बूझल अनुमानी ॥
नयन वदन परिमल गति तन रुचि अओ अति सुललित बानी ॥
कुच जुग परसि चिकुर फुजि पसरल ता अरुझायल हारा ॥
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल चाँद बिहिनु सब तारा ॥
लोल कपोल ललित मनि कुण्डल अधर बिंब अध जाई ॥
भौंह भ्रमर, नासापुट सुन्दर, से देखि कीर लजाई ॥
भनई विद्यापति से बर नागरि आन पावए कोई ॥
कंसदलन नारायण सुन्दर तसु रंगिनी पै होई ॥

(२६)

माधव की कहब सुन्दरि रूपे।
कतेक जतन बिहि आनि समारल देखल नयन सरूपे ॥
पल्लवराज चरन-जुग सोभित गति गजराज क भाने।
कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने ॥
मेरु ऊपर दुइ कमल फुलायल नाल बिना रुचि पाई।
मनिमय हार धार बहु सुरसरि तओ नहिं कमल सुखाई ॥
अधर बिंबसन दसन दाड़िम-बिजु रवि ससि उगथिक पासे।
राहु दूर बस नियर न आवथि तैं नहिं करथि गरासे ॥
सारङ्ग नयन बयन पुनि सारङ्ग सारङ्ग तसु समधाने।
सारङ्ग उपर उगल दस सारङ्ग केलि करथि मधुपाने ॥
भनई विद्यापति सुन बर जौवति एहन जगत नहि आने।
राजा सिवसिंघ रूपनरायण-लखिमा देइ पति भाने ॥

---

२५. छओ अनुपम—क्रम से छः उपमाएँ—हरिण, चन्द्र, कमल, हथिनी, सोना, और कोयल; ये क्रमशः आँख, मुख, शरीर की सुगन्ध, गति, कान्ति और स्वर के उपमान हैं। बूझल—समझ लिया है। फुजि पसरल—खुलकर फैले। बिहिनु—रहित। लोल—चंचल। बिंबफल—एक प्रकार का लाल फल। अध—नीचे। नासापुट—नाक। कंसदलन—नारायन। तसु—उसका। रंगिनी—प्रियतमा। पए—पै (निश्चय के अर्थ में)।

२६. की—क्या। बिहि—विधि। कनक कदलि—सोने के केले का स्तम्भ (जंघा की उपमा)। मेरु—पर्वत रूपी उभरी हुई छाती। दुइ कमल—दोनों उरोज। सन—समान। दसन—दाँत। दाड़िम—अनार। बिजु—बीज। उगथिक पासे—एक साथ उदित हुए। (१) सारङ्ग—हरिण। (२) सारङ्ग—कोयल। (३) सारङ्ग—कामदेव। समधाने—सन्धान। सारङ्ग—भौंरा। मधुपाने—रस पीकर। एहन—इस प्रकार का। आने—अन्य।

(२७)

चाँद सार लए मुख घटना कए लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोय आँचर धनि पोछलि दह दिसि भेल उँजोरे॥
कामिनि कोने गढ़ली।
रूप सरूप मोयं कहइ इत असंभव लोचन लागि रहली॥
गुरु नितब भरे चलए न पारए माझ खानि खीनि निमाई।
भागि जाइत मनसिज धरि राखलि त्रिवलि-लता उरझाई॥
भनई विद्यापति अद्भुत कौतुक ई सब वचन सरूपे।
रूपनारायण ई रस जानथि सिवसिंघ मिथिला भूपे॥

(२८)

सुधामुखि के बिहि निरमिल बाला।
अपरुब रूप मनोभव मगल त्रिभुवन विजयी माला॥
सुन्दर वदन चारु अरु लोचन काजर रंजित भेला।
कनक कमल माँझ काल भुजंगिनी स्रीजुत खजन खेला।
नाभि बिबर सँयँ लोम लतावलि भुजगि निसास पियासा।
नासा खगपति चंचु भरम-भय कुच-गिरि सधि निवासा॥
तिन बान मदन तेजल तिन भुवने अवधि रहल दओ बाने।
विधि बड दारुन बधए रसिक जन सोपल तोहर नयाने॥
भनइ विद्यापति सुन-बर जौवति इह रस केओ पए जाने।
राजा सिवसिंघ रूपनरायण लखिमा देइ रमाने॥

---

२७. चाँद सार—चन्द्रमा का सार तत्त्व। आँचर—अचल। उजोरे—उजियाली। गढली—रचना की। भरे—भार से। माझ खानि—मध्य कटि से। खीनि—क्षीण, पतली। निमाई—बनाया। त्रिबलि—पेट मे पडी तीन रेखाएं। लता—बेल।

२८. के बिहि—किस विधाता ने। निरमिल—रचा। मनोभव—कामदेव की। मगल—कल्याणकारिणी। सँयँ—से। लोम-लतावलि—पेट पर की रोमावलि। निसास—नि.श्वास। चचु—चोच। अवधि—शेप। दओ—दोनो, पाँच बाणों में से तीन बाण कामदेव ने तीनों लोको मे फेंक दिए हैं; शेप दो नायिका की आँखों को दे दिए। केओ पए—विरला ही। देइ—देवी।

(२९)

सजनी, अपरुब पेखल रामा ।
कनकलता अवलंब उअल हरिन-हीन हिमधामा ॥
नयन नलिनि दओ अंजन रंजई; भौंह बिभंग बिलासा ।
चकित चकोर-जोर बिधि बाँधल केवल काजर-पासा ॥
गिरिवर गरुअ पयोधर-परसित गिम गज मोतिक हारा ।
काम कंबु भरि कनक-संभु परि ढारत सुरसरि धारा ॥
पएसि पयाग जाग सत जागइ सोइ पावए बड़ भागी ।
विद्यापति कह गोकुल नायक गोपी-जन अनुरागी ॥

(३०)

कनकलता अरविंदा । दमना माँझ उगल जनि चंदा ॥
केहु कहै सबल छपला । केहु बोले नहि नहि मेघे झपला ॥
केहु कहैं भमए भमरा । केहु बोले नहि नहि चरए चकोरा ॥
संसय परल सब देखी । केहु बोलए ताहि जुगति बिसेखी ॥
भनइ विद्यापति गावे । बड़ पुन गुनमति पुनमत पावे ॥

(३१)

कबरी भय चामरि गिरि कंदर, मुख-भय चाँद अकासे ।
हरिन नयन भय, सर भय कोकिल, गति भय गज बनवासे ॥
सुन्दरि, किए मोहि संभासि न जासि ।
तुव डर इह सब दूर पलाएल, तुहुँ पुनि काहे डरासि ॥
कुच-भय कमल कोरक जल मुँदि रहु, घट परवेस हुतासे ।
दाड़िम सिरफल गगन वासु करु, संभु गरल कर ग्रासे ॥
भुज भय पंक मृनाल नुकाएल, कर-भय किसलय काँपे ।
कवि-सेखर मन कत-कत ऐसन, कहब मदन परतापे ॥

---

२९. अपरुब—अपूर्व । पेखल—देखा । रामा—सुन्दरी । उअल—उदित ।
धामा—चन्द्रमा । विभंग—कुटिलता । जोर—जोड़ा । पास—पाश, बन्धन ।
अ—भारी । पयोधर—कुच । गिभ—गरदन । कम्बु—शंख । पएसि—पैठकर ।
स—प्रयाग । जाग—यज्ञ ।

३०. दमना—द्रोणी लता । माँझ—मध्य में । उगल—उदित हुआ । सैवल—
ल । छपला—छिप गया । झपला—ओट में हो गया । भमए—भ्रमण । परल—
गया । पुन—पुण्य । पुनमत—पुण्यवान ।

३१. कबरी—चोटी । चामरि—चँवर, गाय । सर—स्वर । बनबासे—जंगल
निवास कर लिया है । पलाएल—पलायन, भाग गए । कोरक—कली । मुँदि रहु—
द रहती है । हुतासे—अग्नि से । नुकाएल—छिप गया । कर—हथेली । किसलय—
। अंकुरित कोमल पत्ता । परतापे—प्रताप ।

(३२)

जुगल सैल सिम हिमकर देखल, एक कमल दुई जोति रे।
फुलल मधुरि फुल सिंदुर लोटाएल पाति बइसलि गजमोति रे॥
आज देखल जतके पति आएत अपरुब विहि निरमान रे।
बिपरित कनक कदलि तर सोभित थल पंकज के रूप रे॥
तथहुँ मनोहर बाजन बाजए जनि जागे मनसिज भूप रे।
भनइ विद्यापति पूरब पुन तह एसनि भजए रसमत रे॥
बूझल सकल रस नृप सिवसिंघ लखिमादेइ कर कंत रे॥

(३३)

जाइत पेखलि पथ नागरि गे, आगरि सुबुधि से आनि।
कनकलता सनि सुन्दर सजनि गे, बिहि निरमाओल आनि।
हस्ति गमन जँका चलइत सजनि गे, देखइत राजकुमारि।
जनिकर एहनि सोहागिनि सजनि गे, पए ओल पदारथ चारि॥
नील बसन तन घेरलि सजनि गे, सिरदेल चिकुर समारि।
तापर भमरा पिबए रस सजनि गे, बइसल पख पसारि॥
केहरि सम कटि गुन अछि सजनि गे, लोचन अबुज धारि॥
विद्यापति कवि गाओल सजनि गे, गुन पाओल अवधारि।

कृष्ण का रूप

(३४)

कि कहब हे सखि कानुक रूप। के पति आएत सपन सरूप॥
अभिनव जलधर सुन्दर देह। पति बसन पर दामिनि रेह॥
सामर झामर कुटिलहिं केस। काजर साजल मदन सुवेस॥
विद्यापति कि कहब आर। सून करल बिहि मदन भंडार॥

---

३२. जुगल सैल—(कुचों की उपमा) दो पर्वत। हिमकर—मुख की उप[मा] चन्द्रमा। तथहु—वहाँ भी। मनसिज—कामदेव। पुन—पुन्य। एसनि—ऐसी। र[स]मन्त—सुरसिका।

३३. नागरि—नगर निवासिनी, चतुर स्त्री। आगरि—शिरोमणि, अग्रगण्य। सनि—समान। निरमाओल—बनाया, निर्मित किया। जँका—ऐसा। तापर—उसप[र]। अछि—है। अम्बुज—कमल। अवधारि—निश्चय।

३४. कानुक—कृष्ण। के—कौन। सपन सरूप—स्वप्न, सत्य हो गय[ा]। सामर—घने। झामर—काले। तेजल—छोड़ दिया। तराम—त्रास, भय। आर-सीमा।

सद्यः स्नाता

(३५)

कामिनि करए सनाने । हेरतहि हृदय हनए पँचवाने ।।
चिकुर गरए जलधारा । जनि मुख-ससि डर रोअए अँधारा ।।
कुच जुग चारु चकेवा । निज कुल आनि मिलअ कौन देवा ।।
ते संका भुज पासे । बाँधि धएल उड़ि जाएत अकासे ।।
तितल बसन तन लागू । मुनिहु का मानस मनमथ जागू ।।
भनइ विद्यापति गावे । गुनमति धनि पुनमत जन पावे ।।

(३६)

जाइत पेखल नहाइलि गोरी । कति सयँ रूप धनि आनलि चोरि ।।
केस निगारइत बह जलधारा । चमर गरए जनि मोतिम-हारा ।।
अलकहि तीतल तैं अति सोभा । अलि कुल कमल वेढ़ल मधुलोभा ।।
नीर निरंजन लोचन राता । सिंदुर मंडित जनि पंकज पाता ।।
सजल चीर रह पयोधर सीमा । कनक बेल जनि पड़ि गेल हीमा ।।
ओ नुकि करतहि चाहि किए देहा । अवहि छोड़ब मोहि तेजब नेहा ।।
ऐसन रस नहि पाओब आरा । इथे लागि रोए गरए जलधारा ।।
विद्यापति कह सुनह मुरारी । वसन लागल भाव रूप निहारि ।।

कृष्ण का प्रेमावेग

(३७)

ससन परस खसु अम्बर रे, देखल धनि देह ।
नव जलधर-तर-संचर रे, जनि बिजुरी रेह ।।
आज देखल धनि जाइत रे, मोहि उपजल रंग ।
कनकलता जनि संचर रे, महि निर अवलंब ।।
ता पुन अपुरब देखल रे, कुच जुग अरविंद ।
विग सित नहिं किछु कारन रे, सोभा मुख चंद ।।
विद्यापति कवि गाओल रे, रसबूझ रसमन्त ।
देवसिंह नृप नागर रे, हासिन देई कंत ।।

---

३५. गरए—गिराते हैं । अँधारा—अन्धकार । तितल—गीला ।

३६. कतिसयँ—कहाँ से । आनलि—लाई है । निगारइत—निचोड़ते हुए । तीतल तैं—भीगने से । वेढ़ल—घेर लिया । निरंजन—अंजन रहित । सीमा—ऊपर । हीमा—हिम । आरा—अन्यत्र । इथे लागि—इसीलिए ।

३७. ससन—वायु । खसु—खिसक गया । रेह—रेखा । संचर—गतिशील । सोझा—समक्ष ।

(३८)

गेलि कामिनि गजहु गामिनि विहसि-पलटि निहारि ।
इन्द्रजालक कुसुम-सायक कुहकि भेलि बरनारि ॥
जोरि भुज जुग मोरि बेड़ल ततहिं बदन सुछन्द ।
दाम चम्पक काम पूजल जइसे सारद चन्द ॥
उरहिं अंचल झांपि चचल आध पयोधर हेरु ।
पीन पराभव सरद-घन जनि बेकत कएल सुमेरु ॥
पुनहि दरसन जीव जुडाएब टुटत विरह क ओर ।
चरन जावक हृदय पावक दहइ सब अंग मोर ॥
भन विद्यापति सुनहु जदुपति चित्त थिर नहि होय ।
से जे रमनि परम गुनमनि पुन कए मिलब तोय ॥

(३९)

सहजहि आनन सुन्दर रे, भौंह सुरेखल आँखि ।
पकज मधु-पिबि मधुकर रे, उडए पसारल पाँखि ॥
ततहि धाबल दुई लोचन रे, जतहिं गेल बर नारि ।
आसा लुबधल न तेजए रे, कृपनक पाछु भिखारि ॥
इंगित नयन तरंगित रे, बाम भौंह भेल भंग ।
तखन न जानल तेसर रे, गुपुत मनोभव रंग ॥
चन्दन चरचु पयोधर रे, गिम गज मुकुताहार ।
भसम भरल जनि संकर रे, सिर सुरसरि जलधार ॥
बाम चरन अगुसारल रे, दाहिन तेजइत लाज ।
तखन मदन सर पूरल रे, गति गजए गजराज ॥
आज जाइत पथ देखलि रे, रूप रहल मन लागि ।
तेहि खन सयँ गुन गौरव रे, धैरज गेल भागि ॥
रूप लागि मन धाओल रे, कुच-कचन गिरि साँधि ।
ते अपराध मनोभव रे, ततहि धएल जनि बाँधि ॥
विद्यापति कवि गाओल रे, रस बुझ रसमंत ।
रूपनरायण नागर रे, लखिमा देई कन्त ॥

---

३८. इन्द्रजालक—जादूगर । कुसुम-सायक—कामदेव के बाण । बेड़ल—घेर लिया । ततहिं—वहीं । सुछन्द—सुन्दर । दाम चम्पक—चम्पे की माला से । पराभव—हारकर । सुमेरु—पर्वत (कुचों का उपमान) । जुडाएब—शीतल होंगे । पुन—पुण्य ।

३९. सुरेखल—भवों से शोभित । उडए—उड़ने के लिये । भंग—टेढ़ी । तेसर—तीसरा । मनोभव रंग—कामदेव की मस्ती । चरचु—चर्चित । गिम—गला । भसम—(चन्दन का उपमान) राख । सुरसरि धार—मोतियों की माला का उपमान । तखन—उसी क्षण । सर पूरल—काम का बाण मारा । गजए—पराजित । धएल—रख लिया ।

(४०)

पथगति पेखल मो राधा।
तखनुक भाव परान पए पीड़लि रहल कुमुद-निधि साधा॥
ननुआ नयन नलिनि जनि अनुपम बङ्क निहारइ थोरा।
जनि शृङ्खल में खगवर बाँधल दीठि नुकाएल मोरा॥
आध बदन-ससि बिहसि दिखाओलि आध पिहित निअबाहू।
किछु एक भाग बलाहक झाँपल किछुक गरासल राहू॥
कर जुग पिहित पयोधर अंचल चंचल देखि चित भेला।
हेम कमल जनि अरुनित चंचल मिहिर तले निद गेला॥
भनइ विद्यापति सुनह मधुरपति इह रस केह पए बाधा।
हास दरस रस सबहु बुझाएल नाल कमल दुइ आधा॥

राधा का प्रेमावेग

(४१)

ए सखि पेखलि एक अपरूप। सुनइत मानबि सपन सरुप॥
कमल जुगल पर चाँद क माला। तापर उपजल तरुन तमाला॥
तापर बेढ़लि बिजुरि-लता। कालिंदी तट धीरे चलि जता॥
साखा सिखर सुधाकर पाँति। ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति॥
बिमल बिंबफल जुगल विकास। तापर कीर थीर करु बास॥
तापर चंचल खंजन-जोर। तापर साँपिनि झाँपल मोर॥
ए सखि रंगिनि कहल निसान। हेरइत पुनि मोर हरल गेआन॥
कवि विद्यापति एह रसमान। सुपुरुख मरम तुहू भल जान॥

---

४०. तखनुक—उस समय का। साधा—इच्छा। ननुआ—सुन्दर। शृङ्खल—[illegible]ीर। खगवर—खंजन (आँख का उपमान)। नुकाएल—छुपा लिया। बलाहक—[illegible]दल। राहू—केश का उपमान। पिहित—आच्छादित। मिहिर—सूर्य (लाल हथेली [illegible] उपमान)। मधुरपति—कृष्ण। बुझाएल—ज्ञात हो गया। नाल कमल दुइ [illegible]धा—तुम्हारे हाथ रूपी नाल और कुच रूपी कमल एक ही वस्तु के दो भाग हैं।

४१. चाँद क माला—नाखून की पंक्तियाँ। बेढ़लि—लिपटी हुई। बिजुरि-[illegible]ता—पीताम्बर। साखा—हाथ। नव पल्लव—हथेली। बिंबफल—होंठ। कीर—[illegible]सिका। खंजन—आँख। साँपिन—केश। मोर—मुकुट। निसान—चिन्ह।

(४२)

की लागि कौतुक देखली सखि निमिष लोचन आध ।
मोर मन मृग मरम वेधल विषम बान वे आधा ।।
गोरस विरस बासी विसेखल छिकहु छाडल गेह ।
मुरलि धुनि सुनि मो मन मोहल बिकहु भेल सन्देह ।।
तीर तरङ्गिनि कदम्ब-कानन निकट जमुना घाट ।
उलटि हेरइत उलटि परलओ चरन चीरल काँट ।।
सुकृति सुफल सुनह सुन्दरि विद्यापति भन सार ।
कसदलन गुपाल सुन्दर मिलन नन्दकुमार ।।

(४३)

कतन बेदन मोहि देसि मदना ।
हर नहि बला मोहि जुवति जना ।।
बिभुति भूसन नहि चानन क रेनू ।
बघछाल नहि मोरा नेतक बसनू ।।
नहि मोरा जटा भार चिकुर क बेनी ।
सुरसरि नहि मोरा कुसुम क स्रेनी ।।
चाँदक बिंदु मोरा नहि इन्दु छोटा ।
ललाट पावक नहि सिंदुर क फोटा ।।
नहि मोरा कालकूट मृगमद चारु ।
फनपति नहि मोरा मुकुता हारु ।।
भनइ विद्यापति सुन देव कामा ।
एक पए दूखन नाम मोर बामा ।।

---

४२. लोचन आध—तिरछी नजर से । तरङ्गिनी—सरिता, (जमुना) ।

४३. कतन—कितनी । बला—अबला, स्त्री । चानन क—चन्दन की । नेतक बसनू—चुनडी । स्रेनी—पंक्ति । इन्दु छोटा—दूज का चन्द्रमा । मृगमद—कस्तूरी । बामा—स्त्री ।

(४४)

मनमथ तोहि की कहब अनेक।
दिठि अपराव परान पए पीड़सि ते तुअ कौन विवेक ॥
दाहिन नयन पिसुन गन वारल परिजन वामहि आध।
आध नयन कौन जव हरि पेखल तेँ भेल अत परमाद ॥
पुर बाहिर पथ करत गतागत के नहि हेरत कान।
तोहर कुसुम-सर कतहुँ न संचर हमर हृदय पंचवान ॥

कृष्ण की दूती

(४५)

सुन सुन ए सखि कहिए न होए।
राहि राहि कए तन मन खोए ॥
कहइत नाम पेम भए भोर।
पुलक कम्प तनु घरमहि नोर ॥
गद-गद भाखि कहए वर-कान।
राहि दरस बिनु निकस परान ॥
जब नहि देख तकर से मुख।
तब जिऊ मार धरब कौन सुख ॥
तुम बिनु आन नहि इथे कोइ।
बिसरए चाह बिसर नहि होइ ॥
भनइ विद्यापति नहि बिवाद।
पूरब तोहर सब मन साध ॥

---

४४. पिसुन गन—चुगल खोरों के कारण। वारल—रोका। अत परमाद—पागलपन का आधिक्य। गतागत—आते-जाते। कुसुम-सर—कामदेव के बाण। पंचावान—कामदेव के पाँचों बाण।

४५. राहि-राहि—राधा-राधा। घरमहि—पसीना। नीर—अश्रु। कान—कृष्ण। तकर—उसका। से—वह। इथे—इतना (प्रिय)। पूरब—पूरी होगी।

(४६)

कंटक माँझ कुसुम परगास ।
भमर विकल नहि पावए पास ॥
भमरा भेल घुरए सब ठाम ।
तोहे बिनु मालति नहि बिसराम ॥
रस मति मालति पुन पुन देखि ।
पिवए चाहि मधु जीव उपेखि ॥
उ मधुजीबो तोजे मधुरासि ।
साँचि धरसि मधु मने न लजासि ॥
अपनेहु मने गुनि बुझ अवगाहि ।
तसु दूपने बध लागत काहि ॥
भनहि विद्यापति तौँ पय जीब ।
अधर सुधारस जौं पय पीब ॥

(४७)

आज पेखल नन्द किशोर ।
केलि-विलास सबहु अब तेजल अह निसि रहत बिभोर ॥
जब धरि चकित विलोकि विपिन-तट पलटि आ ओलि मुख मोरि ।
तब धरि मदन मोहन तह कानन लुटइ धीरज पुनि छोरि ॥
पुनि मोह नयन जदि हेरबि पाओब चेतन नाह ।
भुजगिनि दँसि पुनहि जदि दसए तबहि समय विप जाह ॥
अब तुम सन धनि मनिमय भूपन भूषित तन अनुपाम ।
अभिसरु बल्लभ हृदय विराजहु जनि मनि काञ्चन-दाम ।

---

४६ कंटक माँझ—गुरुजन रूपी काटों के मध्य मे । कुसुम—राधा । घुरए—चक्कर लगाना । जीव उपेखि—प्राणों का सौदा करके । साँचि—सचित । तसु—उसके । तौंपय जीव—तभी जीवित रहेगा ।

४७. जब धरि—जबसे । लुटइ—लोट रहे हैं । नाह—नाथ । दँसि—काट-कर । अभिसरु—अभिसार । मनि काञ्चन-दाम—सोने की डोरी पर नीलमणि; यहाँ पर राधा सोने की डोरी है और कृष्ण नीलमणि ।

(४८)

ए धनि कमलिनि सुन हित बानि ।
म करबि अब सुपुरुष जानि ॥
सुजनक पेम हेम समतूल ।
दहइत कनक दुगुन होइ मूल ॥
टूटइत नहि टूट पेम अदभूत ।
जइसन बढ़इ मृनाल क सूल ॥
सबहु मतंगज मोति नहिं मानि ।
सकल कंठ नहि कोयल बानि ॥
सकल समय नहिं रीतु बसंत ।
सकल पुरुष नारि नहीं गुनवंत ॥
भनइ विद्यापति सुन बरनारि ।
प्रेमक रीत अब बुझह विचारी ॥

राधा की दूती

(४९)

सुन मन मोहन कि कहब तोय ।
मुगधिनि रमनि तुअ लागि रोय ॥
निसी दिन जागि जपए तुअ नाम ।
थर-थर काँपि पड़ए सोइ ठाम ॥
जामिनि आध अधिक जब होइ ।
विगलित लाज उठत तब रोइ ॥
सखिगन जत परबोधए जाय ।
तापिनि ताप तर्ताहि तत ताय ॥
कह कवि-सेखर ताक उपाय ।
रचइत तबहि रयनि बहि जाय ॥

---

४८. समतूल—समान । बुझह—समझो ।

४९. विगलित—छोड़कर । तापिनी—ज्वाला से तप्त । तर्ताहि तत—उतना ही उतना । ताक—उसका ।

(५०)

माधव ! कि कहब से विपरीत ।
तनु-मन जरजर भामिनि अन्तर चित बाढ़ल तसु प्रीति ॥
निरस कमल-मुख, कर अवनमई, सखि माँझ बइसलि गोइ ।
नयनक नीर थीर नहि बाँधई पक कमल महि रोइ ॥
मरम क बोल वयने नहि बोलए तनु भेल कुहु-ससि खीना ।
अवनि ऊपर धनि उठए न पारइ धएलि भुजा धरि दीना ॥
तपत कनक जनि काजर भेल तनु अति भेल बिरह हुतासे ।
कवि विद्यापति भन अभिलासत कान्ह चलहु तसु पासे ॥

(५१)

लोटइ धरनि, धरनि धरि सोइ ।
खने खन साँस खने खन रोइ ॥
खने खन मुरछन कठ परान ।
इथि पर की गति दैब से जान ॥
हे हरि पेखलौं से बर नारि ।
न जीवइ बिनु कर-परस तोहारि ॥
केओ केओ कर धरि धातु बिचारि ।
बिरह बिखिन कोइ लखए न पारि ॥

---

५०. से—उसकी । विपरीत—बुरी अवस्था । गोइ—छिपाकर । कुहु ससि—अमावस्या का चन्द्रमा । खीना—क्षीण । पारइ—सकती है ।

५१. कठ परान—प्राण कंठ तक आ गये । इथिपर—इसके बाद । से—इसे । केओ—कोई । दिठि जानि—नजर लगी हुई समझकर । जोतिस—ज्योतिषि । धातु—नाड़ी । बिखिन—क्षीणता ।

(५२)

लाखे तरुवर कोटिहिं लता जुवति कत न लेख ।
सब फूल मधु मधुर नहि फूलहु फूल विसेख ॥
फुल भमर निंदहु सुमर बासि न बिसरए पार ।
जाहि मधुकर उड़ि उड़ि पड़ सेहे ससार का सार ॥
सुन्दरी अवहु वचन सुन ।
सबे परिहरि तोहि इछ हरि आपु सराहति पुन ॥
तोहरे न्तिा तोहरे कथा सेजहु तोहरे चाव ॥
सपनहु हरि पुन पुन कए लए उठाए तोर नाव ॥
आलिगन दए पाछु निहारए तोहि बिनु सून कोर ।
अकथ कथा आपु अवधा नयन तेजए नोर ॥
राहि राही जाहि मुँह सुनि ततहि अप्पए कान ।
सिरि सिबसिंघ ई रस जानए कवि विद्यापति मान ॥

संकेत

(५३)

कर धर करु मोहि पारे, देव मैं अपरुब हारे, कन्हैया ।
सखि सब तेजि गेली, न जानू कौन पथ भेली, कन्हैया ॥
हम न जाएब तुअ पासे, जाएब औघट घाटे, कन्हैया ।
विद्यापति एहो भाने, गूजरि भजु भगवाने, कन्हैया ॥

(५४)

नाव डोलाव अहीरे, जिवइत न पाओब तीरे, खर नीरे लो ।
खेवा न लअए मोले, हँसि हँसि की दहु बोले, जिव डोले लो ॥
किए बिके एलहुँ आपे, बेढ़लिहुँ मोहि बड़ सापे, मोरे पापे लो ।
करितहुँ पर उपहासे, परिलिहुँ तन्हि बिधि-फाँसे, नहिं आसे लो ॥
न बूझसि अबुझ गोआरी, भजि रहु देव मुरारी, नहिं गारी लो ।
कवि विद्यापति भाने, नृप सिवसिंघ रस जाने नव कान्हे लो ॥

---

५२. न लेख—असंख्य । निंदहु—नींद में भी । सेहे—वही । इछ—चाहते हैं । पुन—पुण्य । सून—शून्य । कोर—गोद । नोर—नीर, आँसू । अप्पए—अर्पित ।

५३. धर—पकड़कर । देव—दूँगी । तेजि—त्याग कर । गेलि—गई । पासे—पास ही । औघट घाट—कठिन मार्ग । गूजरि—वाला ।

५४. खर नीरे—तीक्ष्ण जलधारा । दहु—न जाने । बिके—बेचने के लिए । एलहुँ—आयी । आपे—अपने-आप, अकेली । बेढ़लिहुँ—घेर लिया । सापे—शाप, सर्प । परिलिहुँ—पड़ गई । तन्हि—उसीसे । बिधि-फाँसे—दुर्भाग्य के फेर से । गोआरी—ग्वालिन ।

(५५)

कुंज-भवन सयँ निकसलि रे, रोकल गिरिधारी ।
एकहि नगर बस माधव हे, जनि कर बटमारी ॥
छाड़ु कन्हैया मोर आँचर रे, फाटत नब-सारी ।
अपजस होएत जगत भरि हे, जनि करिअ उघारी ॥
संग क सखि अगुआइलि रे, हम एकसरि नारी ।
दामिनी आए तुलाएल हे, एक राति अँधारी ॥
भनहि विद्यापति गाओल रे, सुनु गुनमति नारी ।
हरि क संग किछु डर नहि हे, तोहे परम गमारी ॥

(५६)

तुअ गुन गौरव सील सोभाव ।
सुनि कए चढलिहुँ तोहरि नाव ॥
हठ न करिअ कान्हु कर मोहि पार ।
सब तहँ बड़ थिक कर उपकार ॥
आइल सखि सब साथ हमार ।
से सब भेलि निकहि विधि पार ॥
हमरा भेल कान्हु तोअरोअ आस ।
जे अगिरिअ ता न होइअ उदास ॥
भल मन्द जानि करिअ परिनाम ।
जस अपजस दुइ रहत इक ठाम ॥
हम अबला कत कहब अनेक ।
आइति पड ले बुझिअ विवेक ॥
तोहँ पर नागर हम पर नारि ।
काँप हृदय तुअ प्रकृति विचारि ॥
भनइ विद्यापति गावे ।
राजा सिवसिंघ रूप नरायन इ रस सकल से पावे ॥

---

५५. सयँ—से । बटमारी—लुटेरे । अगुआइलि—आगे गई । एकसरि-अकेली । गमारी—गँवार ।

५६. निकहि—अच्छी तरह से । अगीरिअ—स्वीकार, अंगिकार किया आइति पड़ ले—आ पड़ने पर । बुझिअ विवेक—विवेक पूछा जाता है ।

सखी का व्यंग्य

(५७)

अम्बर बदन झपावह गोरी । राज सुन इछिअ चांदन चोरी ।।
घर घर पहरि गेल अछ जोही । अवही दूपन लागत तोही ।।
कतए नुकाएब चांद क चोर । जतहि नुकाओब ततहि उजोर ।।
हास सुधारस न कर उजोर । बनिक धनिक धन बालब मोर ।।
अधर क सीमा दसन कर जोति । सिंदुर क सीम बैसाओलि मोति ।।
भनइ विद्यापति होइ निरसंक । चाँदहु का थिक भेद कलंक ।।

(५८)

साँझ क बेरि उगल नव ससधर । भरम विदित सविताहु ।।
कुंडल चक्र तरास नुकाएल । दूर भेल हेरथि राहु ।।
जनु बइससि रे बदन हाथ लाई ।
तुअ मुख चंगिम अधिक चपल भेल, कति खन धरब नुकाई ।।
रक्तोपल जनि कमल बइसाओल, नील नलिनी दल ताहु ।।
तिलक कुसुम तहु माझु देखि कहु, भमर आवथि लहु लाहु ।।
पानि-पलव-गत अधर-बिम्ब-रत, दसन दाड़िम बिज तोरे ।।
कीर दूर भेल पास न आवए, भौंह धनुहि के भोरे ।।

(५९)

बड़ कौसलि तुअ राधे । किनल कन्हाई लोचन आधे ।।
ऋतुपति हटवए नहि परमादी । मनमथ मधथ उचित मूलवादी ।।
द्विज-पिक लेखक मसि मकरंदा । काँप भमर-पद साखी चंदा ।।
बहि रति रंग लिखापन माने । श्री सिबसिंघ सरस कवि भाने ।।

---

५७. झपावह—छिपाना । सुन इछिअ—सुना गया है । पहरि—प्रहरी, पहरेदार । नुकाएब—छिपाओगी । उजोर—प्रकाश । सीम—निकट । बैसाओलि—बैठाये हुए हो । भेद कलंक—कलंक के कारण चन्द्रमा तुमसे भिन्न है ।

५८. भरम—सन्देह । सविताहु—सूर्य को भी । हेरथि—देखता है । चंगिम—सुन्दर । कति खन—कब तक । रक्तोफल—लाल कमल (हाथ का उपमान) । नील नलिनी दल—नीली कमल की पंखुड़ियाँ, (आँख का उपमान) । लहु लाहु—धीरे-धीरे । बिम्ब-रत—बिम्बफल के समान । भोरे—भ्रम से ।

५९. कौसलि—चतुरा । किनल—मोल ले लिया । हटवए—व्यापारी । मधथ—मध्यस्थ । उचित मूलवादी—उचित मूल्य निश्चित करने वाला । द्विज—पक्षी । लेखक—मुंशी । काँप—सरकण्डा । साखी—गवाह । बहि—लेखा-जोखा की पुस्तक । लिखापन माने—मान ही लिखने का विषय है ।

(६०)

कचन गहल हृदय हथिसार । ते थिर थभ पयोधर भार ॥
लाज सिकरधर दृढकए गोए । आनक वचन हलह जनु कोए ॥
दूर कर अगे सखि चिन्ता आन । जो न हाथि करिए अवधान ॥
मनसिज मदजल जओ उमताए । धरिहसि पिअतग आँकुस लाए ॥
जाबे न सुमत ताबे अगोर । मुसइत मनिहसि मानस चोर ॥
भन विद्यापति सुन मतिमान । हाथि महत नव के नहि जान ॥

अभिसार

(६१)

चन्दा जनि उग आजु क राति । पिआ के लिखिअ पठाओब पाति ॥
साओन सँय हम करब पिरीति । जत अभिमत अभिसार करीति ॥
अथवा राहु बुझाएब हँसी । पिबिजनि उगलहु सीतल ससि ॥
कोटि रतन जलधर तोहें लेह । आजु क रयनि घन तम कए देह ॥
भनए विद्यापति सुभ अभिसार । भल जन करथि परक उपकार ॥

(६२)

गगन अब घन मेह दारुण, सघन दामिनी झलकई ।
कुलिश पातन सबद झनझन पवन खरतर बलगई ॥

---

६० हथिसार—हस्तिशाला । गोए—छिपाये । आनक—अन्य । हलह जनु कोए—कभी खोल न दो । अवधान—चौकसी । मदजल—हाथी के गण्डस्थल से चूने वाला स्वेद । जओ—जो, यदि । उमताए—उन्मत्त । धरिहसि—रोक लो । जाबे—जब तक । सुमत—अपने वश में । अगोर—घेरे रहो । मुसइत—चुराते हुए । मनइसि—मना करो । महत—उन्मत्त ।

६१. पठाओब—भेजूँगी । साओन—श्रावण । सयँ—से । जत—जो । हँसी—जग-हँसी । जलधर—मेघ । रयनि—रात । घन तम—घना अन्धकार । कए देह—कर दो । परक—दूसरे का ।

सजनी आज दुरदिन भेल ।
कंत हमर नितांत अगुसरि, संकेत कुञ्जहिं गेल ।।
तरल जलधर बरखि झरझर, गरज घन घनघोर ।।
साम नागर एकले कइसन, पंथ हेरए मोर ।।
सुमरि, मझु तनु अवस भेल जनि अथिर थर थर कांप ।।
इ मझु गुरजन नयन दारुण, घोर तिमिरहि झाँप ।।
तुरित चल अब किए विचारत, जीवन मझु अगुसार ।।
कवि सेखर वचन आभिसर, किए से विधिन विथार ।।

(६३)

रयनि काजर बम, भीम भुजंगम, कुलिस परए दुरबार ।
गरज तरज मन, रोस बरिस घन, संसअ पड़ अभिसार ।।
सजनी वचन छड़इत मोहि लाज ।
होएत से होअ बस सब हम अंगिकस साहस मन देल आज ।।
अपन अहित लेख कहइत परतेख हृदय न पारिअ ओर ।
चाँद हरिन वह राहु कवल सह पेम पराभव थोर ।।
चरन वेढ़लि फनि हित मानलि धनि नेपर न करए रोर ।
सुमुखि पुछओ तोहि सरुप कहसि मोहि पिनेह क कत दुर ओर ।।
ठामहि रहिअ घुमि, परस चिन्हअ भुमि, दिग मग उपजु संदेह ।
हरि हरि सिब सिब तावे जाइअ जिव जावे न उपजु सिनेह ।।
भनइ विद्यापति सुनहु सुचेतनि गमन न करहु विलंब ।
राजा सिवसिंघ रूपनरायण सकल कला अवलंब ।।

---

६२. घन मेह—घना बादल । दामिनी—बिजली । झलकई—चमकती है । कुलिस—वज्र । खरतर—तेज । वलगई—बहती है । अगुसरि—आगे होकर । संकेत कुञ्जहिं—गुप्त स्थान । साम—श्याम, कृष्ण । मझु—मेरा । इ मझु—इस बीच । तुरित—शीघ्र । विथार—विस्तार ।

६३. बम—वमन, उलटी । होएत ''बह—जो कुछ होगा वह हो जाए । अंगिकस—स्वीकार करूँगी । परतेख—प्रत्यक्ष । वह—धारण । कवल—ग्रास । वेढ़लि—लिपट गया । नेपर—नूपुर । कत दुर ओर—अन्तिम सीमा कहाँ है ? चिन्हअ—पहचानना । तावे—तब तक । सुचेतनि—सुचतुरा ।

(६४)

आज पुनिम तिथि जानि मायँ अएलिहुँ,
उचित तोहर अभिसार।
देह जोति ससि किरन समाइति,
के विभिनावए पार।
सुन्दरि अपनकु हृदय विचारि।
आँखि पसारि जगत हम देखलि,
के जग तुअ सम नारि।
तोहे जनि तिमिर होत कए मानह,
आनन तोर तिमिरारि।
सहज विरोध दूर परिहरि धनि,
चल उठि जतए मुरारि।
तो वचन होत कए मानल,
चालक भेल पचवान।
हरि अभिसार चललि वर कामिनी।
विद्यापति कवि भान।

(६५)

माधव करिअ सुमुखि समधाने।......
तुअ अभिसार कएलि जत सुन्दरि कामिनि करए के आने॥
बरसि पयोधर धरनि बारि भर रएनि महाभय भीमा।
तइओ चललि धनि तुअ गुनमन गुनि तसु साहस नहिं सीमा॥
देखि भवन भित्त लिखल भुजगपति जसु मन परम तरासे।
से सुवदनि कर झपइत फनि मनि बिहुसि आइलि तुअ पासे॥
निअ पहु परिहरि आइलि कमल मुखि परिहरि निअ कुलगारि।
तुअ अनुराग मधुर मद मातलि किछु न गुनलि बरनारि॥
ई रस-रसिक विनोदक बिन्दक सुकवि विद्यापति गावे।
काम पेम दुहु एक मत भए रहु कखने केओ न करावे॥

---

६४. अएलिहुँ—आयी। तोहर—तुम्हारा। समाइति—समा जायेगी। विभिनावए—भिन्न। पसारि—फैलाकर। जतए—जहाँ। चालक—प्रेरित करने वाला। पचवान—कामदेव।

६५. सुमुखि—सुन्दरी। समधाने—समाधान। पयोधर—मेघ। भीमा—भयकर। मनगुनि—मन में ध्यान करके। भित्त—भीत, दीवार। भुजगपति—शेषनाग। पहु—प्रभु। आइलि—आई। एक...रहु—एकमत होकर रहे।

मिलन

(६६)

सुन्दरि चल लिह पहु घर ना । चहु दिस सखि सबकर धरना ॥
जाइइत लागु परम डर ना । जइसे ससि कांप राहु डर ना ॥
जाइतहि हार टुटिए गेल ना । भूखन बसन मलिन भेल ना ॥
रोए रोए काजल दहाए देल ना । अदकँहि सिंदुर मिटाए देल ना ॥
भनइ विद्यापति गाओल ना । दुख सहि सहि सुख पाओल ना ॥

छलना

(६७)

कुसुम तोरए गेलहुँ जाहाँ । भमर अधर खंडल ताहाँ ॥
तेँ चलिए लिहुँ जमना तीर । पवन हरल हृदय चीर ॥
ऐ सखि सरुप कहल तोहि । आनु किछु जाने बोलसि मोहि ॥
हार मनोहर बेकत भेल । उजर उरग संसम्र लेल ॥
ते घसि मजूर जोड़ल झाँप । नखर गाड़ल हृदय काँप ॥
भन विद्यापति उचित भाग । वचत पाटव कपट लाग ॥

(६८)

खरि नरि-बेग भासलि नाई । धरए न पारथि बाल कन्हाई ॥
ते धसि जमुना भेलहुँ पार । फुटल बलआ टूटल हार ॥
ए सखि ए सखि न बोल मंद । बिरस वचन बाढ़ए दुख दंद ॥
कुंडल खसल जमुना माँझ । ताहि जोहइत पड़लि साँझ ॥
अलक तिलक तेँ बहिगेल । सुध सुधाकर बदन भेल ॥
तरनि तट न पाइअ बाट । तेँ कुच गड़ल कठिन काँट ॥
भन विद्यापति निअ अपसाद । बचन कओसल जितिअ बाद ॥

---

६६. पहु—प्रभु । जाइतिहि—जाने में । दहाए देल—बहा दिया । अदकँहि—आतंक से ।

६७. खंडल—दर्शन किया । हृदय-चीर—अंचल । बेकत—व्यक्त । उजर—उज्ज्वल । उरग—सर्प । मजूर—मयूर । जोड़ल झाँप—झपट पड़ा । नखर गाड़ल—नाखून गड़ गया । पाटव—पटु, होशियार ।

६८. खरि—तीक्ष्ण । नरिबेग—नदी की धारा । भासलि—बह गई । नाई—नौका । बलआ—चूड़ी । जोहइत—खोजते हुए । पड़लि साँझ—संध्या हो गई । अलक—महावर । तरिनी—नदी । कुच—स्तनों में । गड़ल—चुभ गया । अपसाद—अवसाद ।

(६४)

आज पुनिम तिथि जानि मोयँ अएलिहुँ,
उचित तोहर अभिसार।
देह जोति ससि किरन समाइति,
के विभिनावए पार।
सुन्दरि अपनकु हृदय विचारि।
आँखि पसारि जगत हम देखलि,
के जग तुअ सम नारि।
तोहे जनि तिमिर हीत कए मानह,
आनन तोर तिमिरारि।
मनुज विरोध दूर परिहरि धनि,
चल उठि जतए मुरारि।
तो वचन होत कए मानल,
चालक भेल पचबान।
हरि अभिसार चललि वर कामिनी।
विद्यापति कवि भान।

(६५)

माधव करिअ सुमुखि समधाने।·······
तुअ अभिसार कएलि जत सुन्दरि कामिनि करए के आने॥
बरसि पयोधर धरनि वारि भर रएनि महाभय भीमा।
तइओ चललि धनि तुअ गुनमन गुनि तसु साहस नहि सीमा॥
देखि भवन भित लिखल भुजगपति जसु मन परम तरासे।
से सुबदनि कर झपइत फनि मनि बिहुसि आइलि तुअ पासे॥
निअ पहु परिहरि आइजि कमल मुखि परिहरि निअ कुलगारि।
तुअ अनुराग मधुर मद मातलि किछु न गुनलि बरनारि॥
ई रस-रसिक विनोदक विन्दक सुकवि विद्यापति गावे।
काम पेम दुहु एक मत भए रहु कखने केए न करावे॥

---

६४ अएलिहुँ—आयी। तोहर—तुम्हारा। समाइति—समा जायेगी। विभिनावए—विभिन्न। पसारि—फैलाकर। जतए—जहाँ। चालक—प्रेरित करने वाला। पचबान—कामदेव।

६५. सुमुखि—सुन्दरी। समधाने—समाधान। पयोवर—मेघ। भीमा—भयंकर। मनगुनि—मन में ध्यान करके। भित—भीत, दीवार। भुजगपति—शेषनाग। पहु—प्रभु। आइलि—आई। एक···रहु—एकमत होकर रहे।

मिलन

(६६)

सुन्दरि चल लिह पहु घर ना । चहु दिस सखि सबकर धरना ॥
जाइइत लागु परम डर ना । जइसे ससि कांप राहु डर ना ॥
जाइतहि हार टुहिए गेल ना । भूखन बसन मलिन भेल ना ॥
रोए रोए काजल दहाए देल ना । अदकँहि सिंदुर मिटाए देल ना ॥
भनइ विद्यापति गाओल ना । दुख सहि सहि सुख पाओल ना ॥

छलना

(६७)

कुसुम तोरए गेलहुँ जाहाँ । भमर अधर खंडल ताहाँ ॥
तें चलिए लिहुँ जमना तीर । पवन हरल हृदय चीर ॥
ऐ सखि सरूप कहल तोहि । आनु किछु जाने बोलसि मोहि ॥
हार मनोहर बेकत भेल । उजर उरग संसअ लेल ॥
ते घसि मजूर जोड़ल झाँप । नखर गाड़ल हृदय काँप ॥
भन विद्यापति उचित भाग । वचत पाटव कपट लाग ॥

(६८)

खरि नरि-बेग भासलि नाई । धरए न पारथि बाल कन्हाई ॥
ते घसि जमुना भेलहुँ पार । फुटल वलआ टूटल हार ॥
ए सखि ए सखि न बोल मंद । विरस वचन बाढ़ए दुख दंद ॥
कुंडल खसल जमुना माँझ । ताहि जोहइत पड़लि साँझ ॥
अलक तिलक तें बहिगेल । सुघ सुधाकर बदन भेल ॥
तरनि तट न पाइअ बाट । तें कुच गड़ल कठिन काँट ॥
भन विद्यापति निअ अपसाद । वचन कओसल जितिअ बाद ॥

---

६६. पहु—प्रभु । जाइतिहि—जाने में । दहाए देल—बहा दिया । अदकँहि—आतंक से ।

६७. खंडल—दर्शन किया । हृदय-चीर—अंचल । बेकत—व्यक्त । उजर—उज्ज्वल । उरग—सर्प । मजूर—मयूर । जोड़ल झाँप—झपट पड़ा । नखर गाड़ल—नाखून गड़ गया । पाटव—पटु, होशियार ।

६८. खरि—तीक्ष्ण । नरिवेग—नदी की धारा । भासलि
नौका । वलआ—चूड़ी । जोहइत—खोजते हुए । पड़लि साँ..
अलक—महावर । तरिनी—नदी । कुच—स्तनों में । गड़ल—चुभ
अवसाद ।

(६६)

ननदी सरूप निरूपह दोसे ।
बिनु बिचार बेभिचार बुझोवह सासू करतन्हि रोसे ॥
कौतुक कमल नाल सयँ तोरल करए चाहल अवतसे ।
रोष कोप सयँ मधुकर आओल तेहि अधर कए दंसे ॥
सरवर घाट बाट कटक तरु देखहि न पारल आगू ।
सौंकरि बाट उबटि कहु चलि लिहुँ ते कुच कटक लागू ॥
गरुअ कुम्भ सिर थिर नहि थाकए तेँ उधसल केस पास ।
सखि जन सयँ हम पाछे पड़िलिहुँ ते भेल दीघ निसास ।
पथ अवसाद पिसुन परचारल तथिहुँ उतर हम देला ॥
अमरख चाहि धैरज नहि रहले तेँ गदगद सर भेला ॥
भनइ विद्यापति सुन बर जौवति ई सभ राखल गोई ॥
ननदी सयँ रसरीति बढ़ावह गुपुत बेकत नहि होई ॥

६६. निरूपह दोसे—दोष लगाती हो। बेभिचार—व्यभिचार। बुझाओवह—बताओगी। सयँ—से। अवतसे—शिरोभूषण। कए दसे—काट लिया। सौंकरि—संकीर्ण। चलिलिहु—चली। गरुअ—भारी। उधसल—अस्त-व्यस्त। अवसाद—कलंक। पिसुन—चुगलखोर। परचारल—फैलाया। सर—स्वर। अमरख—अमर्ष, क्रोध। गोई—गुप्त। बेकत—व्यक्त।

(७०)

जाहि लागि गेलि ताहि कहाँ लइलि हे
ता पति बैरि पितु काहीं।
अछलि हे दुख सुख कहह अपन मुख
भूषन गमओलह जहाँ।
सुन्दरि की कए बुझाबए कंते।
जन्हिका जनम होइत तोहे गेलिहु
अइलि हे तन्हिका अंते।
जाहि लागि गेलहुँ से चलि आएल
तें मोयँ धाएल नुकाई।
से चलि गेल ताहि लए चललिहुँ
तें पथ भेल अनेआई।
संकर वाहन खेड़ि खे लाइत
मेदनि वाहन आगे।
जे सम अछलि संग से सब चललि भंग
उबरि अएलहुँ अति भागे।
जाहि दुई खोज करइ छथि सासुन्हि
से मिलु अपना संगे।
भनइ विद्यापति सुन वर जोबति
गुपुत नेह रति-रंगे।

७०. गेलि—गई। गमओलह—गँवा दिया। जन्हिका—जिस दिन का जन्म। धाएल—दौड़कर। नुकाई—छिपना पड़ा। अनेआई—अन्याई। संकर वाहन—बैल। मेदिनी वाहन—सर्प। अछलि—थी। भंग—भागकर। उबरि—बचकर। रति-रंगे—रति-क्रीडा।

मान

(७१)

अरुन पूरब दिसा बितलि सगरि निसा गगन मगन भेल चन्दा।
मूदि गेल कुमुदिनि तइअओ तोहर धनि मूदल मुख अरविंद॥
चाँद बदन कुवलय दुहु लोचन अधर मधुरि निरमान।
सगर सरीर कुसुम तोए सिरजल किए दुहु हृदय पखान॥
असकति कर कंकन नहिं पहिरह हार हृदय भेल भार।
गिरि सम गरुअ मान नहि मुचसि अपरुब तुम बेबहार॥
अवगुन परिहर हेरअ हरषि धनि मानक अवधि बिहान।
राजा सिवसिंघ रुपनरायण कवि विद्यापति भान॥

(७२)

सजनी अपद न मोहि परबोध।
तोडि जोडिअ जहाँ गाँठ पडए तहाँ तेज तम परम बिरोध॥
सलिल सनेह सहज थिक सीतल ई जानए सब कोई॥
से यदि तपत कए जतने जुड़ाइअ तइअओ बिरत रस होई॥
गेल सहज हे किरिति उपजाइअ कुल-ससि नीली रंग॥
अनुभबि पुन अनुभवए अचेतन पडए हुतास पतंग॥

७१. बितलि—लाल। तइअओ—तथापि। कुवलय—कमल। मधुरि—पुष्प का नाम। निरमान—तुल्य। पखान—पाखपाण। मुचसि—छोडना। अपरुब—अपूर्व। तोंअ—तुम्हारे। हेरअ—देखो। बिहान—प्रातःकाल।

७२. अपद—स्थान। थिक—है। तपत कए—गर्म करके। जुड़ाइअ—शीतल। बिरत-रस—नीरस। पुन—फिर। अचेतन—मूर्ख। हुतास—अग्नि।

(७३)

अखिल लोचन तम ताप विमोचन उदयति आनन्द कन्दे।
एक नलनि-मुख मलिन करए जदि इथे लागि निन्दन चन्दे॥
सुन्दरि बूझलि तुअ प्रतिभाति।
गुन गुन तेजि दोष एक घोषसि अंत अहीरनि जाति॥
सकल जीव-जन जीव समीरन मन्द सुगन्ध सुसीते॥
दीपक जोति परस जदि नासए इथे लागि निन्दह मारुते॥
स्थावर जंगम कीट पतंगम सुखद जे सकल सरीरे।
कागद-पत्र परस जओं नासए इथे लागि निन्दह नीरे॥
खन खन सकल कुसुम मन तोषए निसि रहु कमलनि संगे।
चम्पक एक जइओं नहि चुम्बए इथे लागि निन्दह भृंगे॥
पाँच पाँच गुन दस गुन चौगुन आठ दुगुन सखि माँझे।
विद्यापति कान्ह आकुल तो विन विपाद न पावसि लाजे॥

(७४)

एत दिन छलि नव रीति रे। जल मीन जेहन पिरीत रे॥
एकहि बचन बीच भेल रे। हँसि पहुँ उतरो न देल रे॥
एकहि पलँग पर कान रे। मोर लेख दूर देस भान रे॥
जाहि बन केओ नहि डोल रे। ताहि बन पिया हँसि बोल रे॥
धरब योगनिया के भेस रे। करब मैं पहुँक उदेस रे॥
भनइ विद्यापति मान रे। सुपुरुष न कर निदान रे॥

---

७३. विमोचन—नाश करने वाले। प्रतिभाति—प्रतिभा। घोषसि—बार-बार कहती है। सुसीते—शीतल। स्थावर—जड़। अचल। जओं—यदि। तोषय—सन्तुष्ट। पाँच...माँझे—५ × ५ × १० × ४ × ८ × २ = १६००० सखियों के बीच में। पावसि—पाती हो।

७४. एत दिन—इतने दिन। छलि—थी। रीति—रंग। मोर लेख—मेरे लिये। पहुँक—प्रियतम का। उदेस—खोज। निदान—अन्त हो।

(७५)

का हम साँझक एक सरि तारा भादव चौठिक ससी ।
इथि दुहुँ माझ कओन मोर आनन जे पहु हेरसि न हँसी ।।
साए साए कहह कहह कन्हु कपट करह जनु कि मोर भेल अपराधे ।
न मोय कबहुँ तुम्र अनुगति चुकलिहुँ बचन न बोलल मंदा ।।
सामि समाज पेम अनुरंजिए कुमुदिनि सन्निधि चंद ।
भनए विद्यापति सुन वर जौवति मेदनि मदन समाने ।।
राजा सिवसिंघ रूपनरायण लखिमा दई रमाने ।।

बसन्त

(७६)

नाचहु रे तरुनि तेजहु लाज । आएल बसन्त ऋतु बनिकराज ।।
हस्तनि चित्रिनि पद्मिनि नारि । गोरि सामरि एक बूढि बारि ।।
विबिध भाँति कएलन्हि सिंगार । पहिरल पटोर गिम झूलहार ।।
केओ अगर चदन घसि भरि कमोर । ककरहु खोइंछ कर पुर तमोर ।।
केओ कुमकुम मरदाव आंग । ककरहु मोतिअ भल छाज मांग ।।

(७७)

दखिन पवन वह दस दिसे रोल । से जनि बादी भासा बोल ।।
मनमथ का॰ साधन नहि आन । निसराएल से मानिन मान ।।
माइ हे सीत बसन्त बिबाद । कओन बिचारब जय अवसाद ।।
दुहु दिसि मघथ दिवाकर भेल । दुजवर कोकिल साखी देल ।।
नब पल्लव जय पत्रक भाँति । मधुकर माला आखर पाँति ।।
बादी वह प्रतिबादी भीत । सिसर बिन्दु हो अन्तर सीत ।।
कुन्द कुसुम अनुपम बिकसंत । सतत जीत बेकताओ बसंत ।।
विद्यापति कबि एहो रस भान । राज सिवसिंघ एहो रस जान ।।

---

७५ एक सरि तारा—अकेला तारा । चौठिक—चतुर्थी । साए—सखि । अनुगति—आज्ञा से । सामि—स्वामी । सन्निधि—पास ।

७६. नाचहु—नाचो । सामरि—श्यामल । पटोर—रेशमी वस्त्र । गिम—कंठ । अगर—एक सुगन्धित पदार्थ । ककरहु—किसी के । तमोर—ताम्बूल, पान । मरदाब—मलवाती है । छाज—शोभित ।

७७. दखिन पवन—मलयानिल । रोल—शब्द । निसराएल—नीरस कर दिया । बिचारब—मानना । अवसाद—पराजय । मघथ—मध्यस्थ । दुजवर—पक्षियों में श्रेष्ठ । बेकताओ—व्यक्त करता है ।

(७८)

अभिनव कोमल सुन्दर पात। सवारे बन जानि पहिरल रात॥
मलय पवन डोलए बहु भाँति। अपन कुसुम रस अपने माति॥
देखि देखि माधब मध हुलसंत। बिरिंदाबन भेल बेकत बसंत॥
कोकिल बोलए साहर भार। मदन पाओल जग नव अधिकार॥
पाइक मधुकर कर मधुपान। भमि भमि जोहए मानिन मान॥
दिसि दिसि से भमि बिपिन निहारि। रास बुझावए मुदित मुरारि॥
भनइ विद्यापति इ रस गाव। राधा माधब अभिनब भाव॥

(७९)

चल देखए जाऊ ऋतु बसंत। जहाँ कुंद कुसुम केतकि हसंत॥
जहाँ चंदा निरमल भमर कार। जहाँ रयनि उजागर दिन अंधार॥
जहाँ मुगधलि माननि करए मान। परिपंथिहि पेखए पंचबान॥
भनइ सरस कबि कंठहार। मधुसूदन राधा बन-बिहार॥

बिरह

(८०)

माधब तोंहें जन, जाहु बिदेस।
हमरा रंग-रभस लै जएबह, लएबह कौन सनेस॥
बनहिं गमन कस होएति दोसर मति बिसरि जाएब पति मोरा॥
हीरा मनि मानिक एको नहिं माँगब फेर माँगब पहु तोरा॥
जखन गमन करु तौर नयन भरु देखहु न भेल पहु ओरा॥
एकहि नगर बसि पहु भेल परबस कइसे पुरत मन मोरा॥
पहु संग कामिनि बहुत सोहागिनि चद निकट जइसे तारा॥
भनइ विद्यापति सुन बर जौबति अपन हृदय धरु सारा॥

---

७८. सवारे—सारे। पहिरल—पहन लिया हो। डोलए—बह रहा हो। माधब—बसन्त। साहर—आम। पाइकन-दूत (पायक)।

७९. कार—काला। मुगुधलि—मुग्धा नायिका। परिपंथहि—शत्रुओं को। पेरखए—देखना पंचबान—कामदेव।

८०. तोंहें—तुम। रंग-रभस—आमोद-प्रमोद। लएबह—लाओगे। होएति—होगी। दोसर मति—पर। बुद्धि। पहु—प्रिय। पुरत—पूर्ण सारा—धैर्य।

(८१)

लोचन धाए फेधाएल हरि नहि आएल रे।
सिव सिव जिवश्रो न जाए आस अरुभाएल रे॥
मन करे तहाँ उड़ि जाइअ जहाँ हरि पाइअ रे।
पेम परस-मनि जानि आनि उर लाइअ रे॥
सपनहु सगम पाओल रग बढ़ ओल रे।
से मोरा बिहि बिघटा ओल निदओ हेराएल रे॥
भनइ विद्यापति गाओल धनि धइरज धर रे।
अचिरे मिलत तोहि बालमु, पुरत मनोरथ रे॥

(८२)

माधव हमर रतल दुर देस। केओ न कहइ सखि कुसल सनेस॥
जुग जुग जीवथु बसथु लाख कोस। हमर अभाग हुनक नहिं दोस॥
हमर करम भेल बिहि बिपरीति। तेजलनि माधव पुरुबिल पिरीति॥
हृदयक वेदन बान समान। आनक दुख आन नहि जान॥
भनइ विद्यापति कबि जयराम। दैव लिखल परिनत फल बाम॥

(८३)

के पतिआ लए जाएत रे मोरा पियतम पास।
हिय नहि सहए असह दुख रे, भेल सावन मास॥
एकसरि भवन पिया बिन रे मोरा रहलो न जाय।
सखि अनकर दुख दारुन रे के पति आय॥
मोर मन हरि हरि लए गेल रे अपनो मन गेल।
गोकुल तजि मधुपुर बस रे कत अपजस लेल॥
विद्यापति कवि गाओल रे धनि धरु पिय आस।
आओत तोर मन भावन रे एहि कातिक मास॥

---

८१. फेधाएल—फूल गये। परस मनि—स्पर्श मणि। सगम—मिलन। बिहि—विधाता। विघटा ओल—नष्ट कर दिया। निन्दओ—निद्रा। हेराएल—जाती रही। अचिरे—शीघ्र ही।

८२. रतल—चला गया। केओ—कोई भी। बसथु—बसें। हुनक—उनका। बिहि—विधि। तेजलनि—छोड़ दिया। पुरुबिल—पूर्व का। आनक—दूसरे का। परिनत—परिणति।

८३. पतिआ—पत्र। एकसरि—एकाकी। अनकर—दूसरी का। मधुपुर—मथुरा। आओत—आवेगा।

(८४)

अंकुर तपन ताप जदि जारब कि करब बारिद मेहे।
ई नव जोबन बिरह गमाओब कि करब से पिया गेहे ॥
हरि हरि के यह दैव दुरासा।
सिंधु निकट जदि कंठ सुखाएब के दुर करब पियासा ॥
चंदन तन जब सौरभ छोड़ब ससधर वरिखब आगी।
चिंतामनि जब निज गुन छोड़ब कि मोर करम अभागी ॥
साओन माह घन-बिंदु न वरिखब सुरतरु बाँझ कि छाँदे।
गिरधर सेवि ठाम नहिं पाएब विद्यापति रहु धाँदे ॥

(८५)

चानन भेल विषम सर रे, भूषन भेल भारी।
सपनहुँ हरि नहिं आएल रे, गोकुल गिरधारी ॥
एकसरि ठाडि कदम-तर रे, पथ हेरति मुरारी।
हरि विनु हृदय दगध भेल रे, झामर भेल सारी ॥
जाह जाह तोहें उधव हे, तोहें मधुपुर जाहे।
चन्द्रबदनि नहि जीवति रे, बध लागत काहे ॥
भनइ विद्यापति तन मन रे, सुन गुनमति नारी।
आजु आओत हरि गोकुल रे, पथ चलु झटझारी ॥

(८६)

लोचन नीर तटिनि निरमाने। करए कलामुखि ततहि सनाने ॥
सरस मृनाल करए जयमाली। अहंनिस जप हरिनाम तोहारी ॥
वृन्दावन कानु धनि तप करई। हृदय बेदि मदनानल बरई ॥
जिव कर समधि समर कर आगी। करति होम बध होए बह भागी ॥
चिकुर-बरहि रे समरि कर लेअई। फल उपहार पयोधर देअई ॥
भनइ विद्यापति सुनह मुरारी। तुअ पथ हेरइत अछि बरनारी ॥

---

८४. ससधर—चन्द्रमा । वरिखब—वर्षा करे । सुर.तरु—कलप तरु । कि छाँदे—किस तरह । गिरिधर—पृथ्वी, कृष्ण । ठामे—स्थान । धाँधे—सन्देह ।

८५. चानन—चन्दन । एकसरि—अकेले । तर—नीचे । झामर—मलिन । झटझारी—झटक कर ।

८६. तरिनि—नदी । कलामुखि—चन्द्रमुखि । जयमाली—माला । मदनानल—कामाग्नि । जिवकर समिध—प्राणों को लकड़ी बनाकर । समर—स्मरण । होम—हवन । चिकुर-बरहि—केश रूपी कुश । समरि—समेट कर । पयोधर—स्तन । अछि—है ।

(८७)

माधव कठिन हृदय परवासी ।
तुअ पेअसि मोयँ देखल वियोगिनि अबहु पलटि घर जासी ॥
हिमकर हेरि अवनत कर आनन करु करुना पथ हेरी ।
नयन काजर लए लिखये विधुन्तुद भये रहु ताहेरि सेरी ॥
दखिन पवन बहु से कइसे जुवति सहकर कवलित तनु अंगे ।
गेल परान आस दये राखये दस नख लिखए भुजंगे ॥
मीनकेतन गय सिव सिव कये धरनि लोटावए देहा ।
कर रे कमल लए कुच सिरिफल दए सिव पूजन निज गेहा ॥
परभृत के उर पाअस लए कर वायस निकट पुकारे ।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन करथु विरह उपचारे ॥

(८८)

सरदक ससधर मुखरुचि सोपलक हरिन के लोचन लीला ।
केस पास लए चमरि के सोपलक पाए मनोभव पीला ॥
माधव, जानल न जिबति राही ।
जतबा जकर ले ले छलि सुन्दरि से सब सोपलक ताही ॥
दसन दसा दालिम के सोपलक बन्धु अधर रुचि देली ।
देह दसा सौदामिनि सोपलक काजर सनि सखि भेली ॥
भौंहक भग अनंग चाप दिहु कोकिल के दिहु बानी ।
केवल देह नेह अछ लओले एतबा अएलहुँ जानी ॥
भनइ विद्यापति सुन वर जौवति चित्त झँखहु जनु आने ।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन लखिमा देइ रमाने ॥

---

८७ परवासी—प्रवासी । पेअसि—प्रेमिका । हिमकर—चन्द्रमा । विधुन्तुद—राहु । ताहेरि सेरि—उसी की शरण में । कवलित—खा जाना । मीनकेतन—कामदेव । सिरिफल—श्रीफल । परभृत—कोयल । पायस—खीर । वायस—कौआ । करथु—करें ।

८८. सरदक—शरद ऋतु के । सोपलक—सौंप दिया । लीला—चंचलता । मनोभव—कामदेव । पीला—पीड़ा । राही—राधा । जतबा—जितना । दसन दसा—दाँतों की सुन्दरता । दालिम—दाड़िम, अनार । बन्धु—मधुरी फूल । सौदामिनी—बिजली । अनंग—कामदेव ।

(८९)

अनुखन माधव माधव सुमरइत सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल अपने गुन लुबधाई॥
माधव अपरुब तोहर सिनेह।
अपने विरह अपन तनु जर जर जिवइत भेलि सन्देह॥
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि॥
राधा सयँ जब पुनतहि माधव माधव जब राधा।
दारुन पेम तबहि नहि टूटत बाढ़त बिरहक बाधा॥
दुहु दिसि दारु-दहन जैसे दगधइ आकल कीट परान।
ऐसन वल्लभ हेरि सुधामुखि कबि बिद्यापति भान॥

(९०)

सुतलि छलहुँ हम घरवा रे गरवा मोतिहार।
राति जखनि भिनसरुवा रे पिया आएल हमार॥
कर कौसल कर कपइत रे हरवा उर टार।
कर-पंकज उर थपइत रे मुख चंद निहार॥
केहिन अभागिलि बैरिन रे भागलि मोर निन्द।
भल कए नहि देख पाओल रे गुनमय गोबिन्द॥
विद्यापति कबि गाओल रे धनि मन धरु धीर।
समय पाए तरुवर फर रे कतबो सिंचु नीर॥

८९. अनुखन—अनुक्षण। मधाई—कृष्ण। तोहर—तुम्हारा। दारुन—कठिन। बाढ़त—बढ़ेगी। दारु-दहन—काष्ठाग्नि। दगधई—जलाती है। परान—प्राण।

९०. गरवा—गले में। जखनि—जिस समय। भिनसरुवा—भोर। कर कपइत—काँपते हुए हाथों से। केहिन—कैसी। कतबो—कितना ही।

उल्लास

(६१)

सरस बसत समय भल पाओलि दछिन पवन बहु धीरे।
सपनहुँ रूप बचन एक भाखिए मुख सो दूरि करु चीरे॥
तोहर बदन सम चान होअथि नहि जाइओ जतन बिहि देला।
कए बेरि काटि बनाओल नव कै तइओ तुलित नहि भेला॥
लोचन-तूल कमल नहि भए सक से जग के नहि जाने।
से फेरि जाए लुकाएल जल-मयँ पंकज निज अपमाने॥
भनहि विद्यापति सुनु वर जौवति ई सम लछमी समाने।
राजा सिवसिंघ रूपनारायण लखिमा देइ पति भाने॥

(६२)

मोरा अँगनवा चनन केरि गछिया,
ताहि चढ़ि कुररय काग रे।
सोने चोंच बाँधि देब तोयँ बायस,
जओ पिया आवत आज रे॥
गावहु सखि सब झूमर लोरी,
मयन अराधन जाऊँ रे।
चओदिस चम्पा मओली फूलति,
चान उजोरिया राति रे॥
कइसे कए मोय मयन अराधब,
होइति बड़ि रति-साति रे।
विद्यापति कवि गाबए तोहर,
यहु अछ गुनक निधान रे॥
राओ भोगीसर सब गुन आगर,
पदमा देइ रमान रे॥

---

६१. पाओलि—पाया। बहु—बहता है। दुरि करु—दूर करो। तोहर—तुम्हारे। चान—चन्द्रमा। जाइओ—यद्यपि। बिहि—विधि। कए बेरि—कितनी बार। तइओ—तथापि।

६२. गछिआ—वृक्ष। कुररय—बोल रहा है। जओ—यदि। मयन—कामदेव। मओली—मल्लिका। उजोरिया राति—चादनी रात। रति-सति—कामजन्य-व्यथा। रमान—पति (रमण)।

(६३)

सुन रसिया, अब न बजाऊ विपिन बंसिआ ॥
बार बार चरणारविंद गहि सदा रहब बनि दसिया ॥
कि छलहुँ कि होएब से के जाने वृथा होएत कुल हसिया ॥
अनुभव ऐसन मदन-भुजंगम हृदय मोर गेल डसिया ॥
नंद नंदन तुव सरन न त्यागब बलु जग होय दुरजसिया ॥
विद्यापति कह सुन बनितामनि तोर मुख जीतल ससिआ ॥
धन्य धन्य तोर भाग गोआरिनि हरि भजु हृदय हुलसिया ॥

(६४)

सखि कि पुछसि अनुभव मोय।
से हो पिरित अनुराग बखानिए तिल तिल नूतन होय ॥
जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल ॥
सेहो मधु बोल स्रवनहि सूनल स्रुति पथ परस न भेल ॥
कत मधु जामिनि रभस गमाओल न बूझल कइसन केल।
लाख लाख जुग हिय हिय राखल तइयो हिय जुड़ल न गेल ॥
कत विदगध जन रस अनुमोदई अनुभव काहु न पेख।
विद्यापति कह प्राण जुड़ाएत लाखे न मिलल एक ॥

---

६३. दसिया—दासी। दुरजसिया—कलंक, दुर्यश। बनितामनि—न
रत्ना। ससिआ—चन्द्रमा। गोआरिनी—गोपी। हुलसिआ—उल्लसित होकर।

६४. से हो—वही। निहारल—देखा। मधु जामिनी—बसंत की र
रभस—रति-क्रीड़ा।